CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

3-3/18

भावपुरुष श्रीकृष्ण

आम्नाय-ग्रन्थालय,
वाराणसी

विद्यानिवास मिश्र

ालय
ाणसी-५
3/18

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भावपुरुष श्रीकृष्ण

33/18
आम्नाय-ग्रन्थालय,
भरतनिधि, करौंदा
वाराणसी-5

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

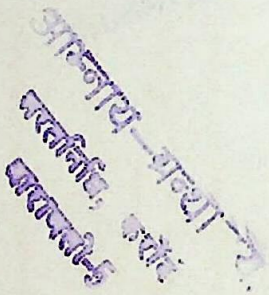

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली-६

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-५

भावपुरुष श्रीकृष्ण

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-५

विद्यानिवास मिश्र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकाशक : प्रभात प्रकाशन, चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६
सर्वाधिकार : सुरक्षित / संस्करण : प्रथम, १९८९ / मूल्य : तीस रुपये

BHAVPURUSH SHRIKRISHNA by Vidya Niwas Mishra
Rs. 30.00
Published by Prabhat Prakashan, Chawri Bazar, Delhi-110006

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बन्धुवर श्री कृष्णचन्द्र शर्मा
और स्नेहमयी शकुन्तला जी को
सस्नेह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

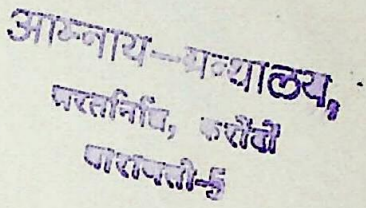

अनुक्रम

भूमिका : श्रीकृष्णतत्त्व	५
श्रीमद्भागवत का दिव्य तत्त्व	१५
श्रीमद्भागवत का मानवीय तत्त्व	३५
भक्ति, भक्तिकाव्य और भक्ति-रस	५०
गीतगोविन्द : नया युगारम्भ	५७

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

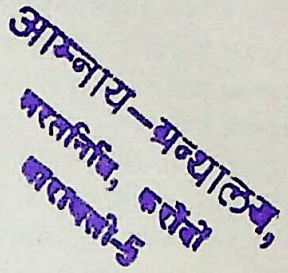

१
भूमिका : श्रीकृष्णतत्त्व

'भावपुरुष श्रीकृष्ण' चार व्याख्यानों का संग्रह है, तीन व्याख्यान श्रीमद्-भागवत को केन्द्र में रखकर दिये गये, चौथा गीतगोविन्द को ध्यान में रखकर। गीतगोविन्द भागवत का पूरक है, एक तरह से उसकी फलश्रुति है। भागवत का प्रारम्भ सब कामनाओं के श्रीकृष्ण भाव में विसर्जन से होता है और परिणाम होता है श्रीकृष्ण भाव से भक्त जन में श्रीकृष्ण के भरने से। भागवत के केन्द्र में श्रीकृष्ण हैं, भागवत एक तरह से श्रीकृष्ण का वाङ्मय विग्रह है। गीतगोविन्द के केन्द्र में श्रीराधा हैं, अतः वह राधा का, श्रीकृष्णमय राधा का गीतमय विग्रह है, भागवत राधा की माधवी वृत्ति में चरितार्थ हो जाता है। श्रीकृष्ण और श्रीराधा पृथक् नहीं हैं, जैसे भाव और रस पृथक् नहीं हैं। भाव का उच्छलन ही रस है, श्रीकृष्ण का राधामय होना ही सच्चिदानन्द सागर का ज्वार है। ब्रह्म अतिक्रामी ही नहीं होता, अतिक्राम्य भी होता है, ब्राह्मी स्थिति सबके भीतर होती हुई सबके परे चली जाती है तो ब्राह्मी स्थिति के परे भी एक स्थिति होती है, मोह रूप द्वैत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को पार करके अद्वैत की जड़ता तोड़ने वाली भी एक गति होती है, उसी का नाम राधा है।

कृष्ण शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की जाती है, आकृष्ट करने का जिनका स्वभाव है, वे कृष्ण हैं; जो हरी-भरी फसल की तरह श्यामल हैं वे कृष्ण हैं; जो प्रकाश की सघन केन्द्र बिन्दु होने के कारण आँखों के अगोचर हैं, इसलिए श्याम हैं, सूर्यमण्डल के भीतर कमल पर आसीन जो प्रकाश का तरल रस होगा, वह होगा तो उजले का भी उजला, पर लगेगा गहराई के कारण काला भंवर ही न। कृष्ण की एक दूसरी व्युत्पत्ति है :

'कृषिर्भूवाचको शब्दो णस्तु निर्वृतिवाचकः'। कृष्ण में कृष् का अर्थ है खींचना, जोतना, धरती में बीजवहन की क्षमता उत्पन्न करना, धरती की उत्पादक शक्ति का आवाहन करना, भू को सत्ता न बने रहने देना, उसे भाव, परार्थभाव बनाने के लिए प्रेरित करना, जहाँ कहीं जड़ता है, स्थिरता है, बंजर भाव है, वहाँ एक हलचल पैदा करना और ठीक इसका विलोम भी है, जो अत्यन्त गतिशील है, जिनकी गति रोके नहीं रुकती, इतनी चंचल है कि कहीं ध्यान का ठहराव नहीं है, उसको स्तब्ध कर देना, उसके स्पन्द को एक क्षण रोक देना, जलती हुई वत्ती को प्राणों के निरोध से निष्कम्प कर देना, स्थिति और गति दोनों को खींचना, दोनों में परिवर्तन लाना ही कृष् का, कृषि का, कृष्ण का, सनातन व्यापार है। इसीलिए तो ण जुड़ा हुआ है, निषेधार्थक न का मूर्धन्यीकरण, नकार को शीर्ष पर स्थापित करने वाला ण **निर्वृति** का वाचक है। जितने घेरे हैं, जितने आवरण हैं, जितनी कामनायें हैं सबको उखाड़कर रख देता है, तुम अपने को जो कहोगे, जो मानोगे, वह नहीं रहने पाओगे। जो भी तुम्हारे भीतर अभिमान होगा, कितना भी सात्त्विक अभिमान क्यों न हो, वह कृष्ण रहने नहीं देंगे, उन्होंने अपना अभिमान तो रहने नहीं दिया, किसी भी प्रकार का अभिमान, नर रूप में यदुवंशी होने का, पालित पुत्र के रूप में गोपाल होने का, साधक रूप में योगेश्वर होने का, निरस्त्र सारथि होने का, कोई भी अभिमान विना खण्डित किये न रहे, अन्त में उन्होंने परब्रह्मता का अभिमान भी खण्डित किया, एक मामूली व्याध के तीर के वेध्य बनकर, उन्होंने ऐश्वर्य का अभिमान खण्डित किया राधा के उदार पद-पल्लव के चाहक बनकर। कृष्ण के बारे में एक देवीपुराण में कथा है कि देवी ने शिव से कहा कि मैं तुम्हें पुरुष बनकर प्यार देना चाहती हूँ, तुम नारी रूप हो जाओ, शिव तो शिवा की बात रखते ही, उन्होंने राधा रूप धारण किया और देवी ने (श्यामा ने) कृष्ण रूप। देवी की सम्पूर्ण निषेधशक्ति कृष्ण में प्रस्फुटित हुई। बचपन से ही कृष्ण ने ध्वंस और खण्डन ही की लीला तो रची, जेल की जंजीरें तोड़ीं, यशोदा के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रसूति गृह के द्वार तोड़े, पूतना का वध किया, प्रभंजनों का भंजन किया, छकड़ा तोड़ा, पेड़ तोड़ा, कालिय का गर्व तोड़ा, इन्द्र का मान तोड़ा, ब्रह्मा का अभिमान तोड़ा, कितने तो मटके फोड़े, कितने तो मन तोड़े, तोड़ते-तोड़ते ऐसे निर्मम हो गये कि कोई रिश्ता नहीं रह गया, सख्य, प्रीति, वात्सल्य, स्वामित्व, कुछ नहीं। यहाँ तक कि आत्मसम्बन्ध भी नहीं, आत्माराम के योग का सम्बन्ध भी नहीं। ऐसी निर्वृति, ऐसी उन्मुक्तता कहाँ और मिलेगी। पर इस निर्वृति की एक विवशता है, निर्मम होकर भी इसे ऐसे अनात्म निरहंकार सर्वस्व-समर्पक भाव के आगे चाहक बनना है, रस-सागर को मथकर जो मक्खन निकलता है; वह मुझे मिले। बड़े यत्न से मक्खन निकलता है और बहुत छिपाकर इसे रखना पड़ता है, अपने हृदय की तरल सघनता को कोई क्यों बाँटता फिरेगा! श्रीकृष्ण उस सघनता को उसी तरह छिपाव की भूमिका में उतर कर ग्रहण करना चाहते हैं, सब तो ग्रहण कर नहीं पाते, उसे बाँटते हैं और ढरका देना चाहते हैं। व्यष्टि का रस सबमें वितरित हो जाय, सर्वात्मा को समर्पित हो जाय, वह इस प्रकार के अधिग्रहण में ही मक्खन न रहकर मिट्टी के भाजन में न रह सकने वाली अमृत की धार बन जाने को आतुर हो जाय। गोपी अपनी न रहकर परायी हो जाय। निर्वृति की निष्ठुरता भाजन को भाजन नहीं रहने देना चाहती, उसे रस बना देना चाहती है। गोपी दही बेचने जाती है और पुकारती है कोई गोपाल लेगा मोल, दही को गोपाल के लिए अर्पित होने की उदग्र कामना में गोपाल होना ही होना है, दही बेचने वाली को भी, गोपाल की चाह बन जाना है, न गोपी रहना है, न नारी देह रहना है, न प्रिया रहना है बस चाह हो जाना है। उसे छन्दोमय कर्म बन जाना है, गाय दुहने बैठें, धान कूटने चलें, दही विलोयें, घर लीपें, झूले पर झूलने चलें, बच्चा रो रहा है, उसे चुप कराने चलें, उसे उबटन लगाने चलें, कुछ भी करें, रोम-रोम में श्रीकृष्ण की चाह की सिहरन होती है, एक गान उमड़ता रहता है, सर्वनाशी प्यार का, इतने विशाल और विराट् श्रीकृष्ण भाव के लिए चित्त यान बन जाता है, भाव तुम्हें चलना है तो तुम्हारी लाचारी है, यह छोटा-सा चित्त है, बड़ा कठोर, बड़ा ही अपने आग्रह में दृढ़ इस पर विराजो, यही तुम्हें ले जायेगा इस छोर से उस छोर तक, इस अँधेरी आत्मा की गुफा से बाहर प्रकाश के प्लावन तक, इस निभृत निकुंज से शरद् के निरभ्र रुपहले आकाश के अनन्त और उन्मुक्त रस-ज्वार तक।

या दोहनेवहननेमथनोपलेप-
प्रेंखेंखनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोश्रुकंठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ध्यान साँवरे के रंग में रँगा है, आँखों में साँवरे का रस आँसू बनकर उमड़ा चला आ रहा है, कहीं नाभि से स्वर उठ रहा है, कृष्ण-कृष्ण, गोविन्द-गोविन्द, दामोदर-दामोदर, माधव-माधव। श्रीकृष्ण को इसी रस की तरस है, अतृप्य तरस है। सबसे अधिक तरस है शिव के शान्त निर्धूम तप के ताप पर खौलाये सात्त्विक वाणी के रस से धैर्य के जेमन से जमाये दही के स्वाद की। सूर की राधा ने कहा—मेरे दधि कौ हरि स्वाद न पायौ। हरण करने वाले लुटेरे ने मेरे दही का स्वाद कहाँ पाया। वह लूटने से नहीं मिलेगा, वह मिलेगा, निःशेष समर्पण से, भूमिका परिवर्त्तन से, पीताम्बर देकर नीली ओढ़नी ओढ़ने से, वंशी देकर, मोर मुकुट देकर बेंदी सिर पर धारण करने से, वास परिवर्त्तन से आगे जाकर चित्त परिवर्त्तन से। पुनः स्वभावज नारी रूप में अपना शृंगार कराके और अपने हाथ से शिव रूप राधा को पुरुष में प्रतिष्ठित कराके प्राणों के विनिमय से। राधा श्रीकृष्ण होकर बिचारी राधा के लिए अकुला उठें, उसे बहुत सताया, कैसी होगी, श्रीकृष्ण राधा होकर रूठ जायें और मनाये न मनें, कृष्ण हुई राधा थक जाये, खीझ जाये, क्या अपराध मुझसे हुआ। यह वैचित्य, चित्त का अपना चित्त न रह जाना, अपना विशिष्ट चित्त हो जाना, सामान्य चित्त की तरह आत्म-चिन्तक न रह जाना, परकीय हो जाना, श्रीकृष्ण भाव का उच्चलन है। तभी श्रीकृष्ण रस बनते हैं। मैंने उन्हें भावपुरुष कहा है, रस होने की अधिकारिणी तो केवल उनकी ह्लादिनी वृत्ति है, उनका राधामय रूपान्तर है।

मैंने श्रीकृष्णपरक दो ग्रन्थों पर जो व्याख्यान दिये, उनमें न तत्त्वसमीक्षक की दृष्टि है, न इतिहास-लेखक की, न धर्म-परायण की, न कलाकार की, न कवि की, इनमें साहित्य के सामान्य पर भागवत और गीतगोविन्द से अभिभूत पाठक की दृष्टि है। मैं श्रीकृष्णचरित को अखण्ड रूप में देखने में सुख पाता हूँ, क्योंकि मुझे इसी में संगति दिखायी पड़ती है कि इतनी लीलाओं में अपने को विभक्त करने वाला, इतनी कलाओं में अपने को अलग-अलग छिटकाने वाला ही अखण्ड और षोडशकलाओं वाला महापुरुष हो सकता है, महाषोडशी के अपांगविलसित के बिना गोवर्धन धारण नहीं होगा। व्रज में गोचारण के बिना भीतर की गायों, इन्द्रियों का चारण नहीं होगा, छल की क्रीड़ा बिना सारे संसार के छल और दुराव का छलन नहीं होगा। छान्दोग्य उपनिषद् में श्रीकृष्ण को दिये गये उपदेश की कथा आती है, जो घोर आंगिरस के मुख से कहलायी गयी है, पूरा उपदेश इस प्रकार है—

स यदशिशिषति यत् पिपासति यत्स रमते तदस्य दीक्षा।
स यदश्नाति यत् पिबति यद् रमते तदुपसदैरेति।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

स यद् हसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति स्तुतशस्त्रैरेव तदेति।
अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः।
तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति।

पुनरुत्पादनमेवास्य तत्। मरणमेवावभृथः। तद्धैतद् घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकीपुत्राय उक्त्वोक्तवोवाच। अपिपास एव स बभूव।

सोन्तवेलायां प्रतिपद्येत-अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंचितमसि।

इस काव्यमय भाषा का एक अत्यन्त स्थूल रूपान्तर है—यह आदमी जो है न, जब उसे भूख लगी होती है, प्यास लगी होती है, कहीं उसे चैन नहीं पड़ता है, वह कहीं रमना चाहता है, उस समय यह अनुभव करना चाहिए कि वह जीवन-यज्ञ की दीक्षा ले रहा होता है। दीक्षा की शर्त है खाली होकर, **रेरिचान** (रिक्त) होकर भरने की आकांक्षा करना। जब वह खाता है, पीता है और उसका मन रमने लगता है, कोई उसे प्रिय लगने तगता है, तब समझना चाहिए कि वह यज्ञवेदी के पास पहुँच गया है।

जब वह हँसता है, प्रमुदित होता है, जब वह भोग को आत्मसात् करता है, जब वह अपने संसार को नष्ट करता रहता है, जब वह दो का एक होता रहता है, जब वह स्त्री-पुरुष के संयोग के अद्वैतात्मक क्षण में प्रविष्ट होता रहता है, रूपक की भाषा में परस्पर निगीर्ण होता रहता है, तब वह यज्ञ में शस्त्र और स्तोत्र नामक मन्त्रों के उच्चारण के साथ यज्ञ के भीतर आहुति बनता है, यह अनुभव करना चाहिए।

और इस यज्ञ की दक्षिणा के रूप में उस प्रेरक कर्त्ता को जिसने अपने को इस जीवन-यज्ञ में झोंका और अपने को अलग रखा, दक्षिणा के रूप में मिलते हैं, तप, दान, आर्जव (सूधापन), अहिंसा और सत्य। एक प्रकार से यज्ञ पुनरुत्पादन है, सृष्टि का नवीकरण है, जीवन जीना मात्र नहीं है, नयी रचना है, विशाल रचना है। इस प्रकार जिया गया जीवन मृत्यु है अहंकार का, ममकार का। इसलिए यज्ञ समाप्ति पर जो स्नान किया जाता है, वह अवभृथ स्नान (भीतर से भरने वाला स्नान) ही मृत्यु है, मृत्यु विराम नहीं है, नया आरम्भ है, पुनः नये जीवन-यज्ञ में दीक्षा और आहुति की तैयारी है 'पुनः सवेरा एक बार फेरा है जी का'।

यही विद्या घोर आंगिरस ने देवकीपुत्र कृष्ण को सिखायी और उनकी प्यास बुझ गयी, ऐसा हुआ कि अन्तवेला तक उन्हें ज्ञान बना रहा—तुम्हारा कोई घर नहीं है, तुम अक्षित हो, तुम्हारा कुछ नहीं घटता, तुम अव्यय हो, अच्युत हो, प्राण तुम्हें बराबर सान पर चढ़ाये रहते हैं, तुम्हें हमेशा चीरते रहते हैं, तुम **प्राण संशित** हो, तुम कितने अपने हो, कितने दूसरों के हो, इस द्वन्द्व में जीना जीना है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मृत्यु प्राचीन बीज का नया अंकुरण है, यह भाव बना रहे, हम अन्धकार को पार करते रहें, बराबर आगे की ज्योति की ओर देखते रहें, आत्मरूप प्रकाश से ज्योति के कणों को भी देखते रहें। यही देवता होना है, इसी मार्ग से देवता प्रकाश होते हैं, होते रहते हैं।

जो इस उपदेश के साथ श्रीकृष्ण को जुड़ा देखेगा, उसे श्रीकृष्ण की जीवन-यात्रा के क्षण-क्षण सार्थक लगेंगे, अखण्डता के साधक लगेंगे। उनका रासेश्वर रूप उनके योगेश्वर रूप का विरोधी नहीं है, न उनका सेवक रूप उनके सेव्य होने का, न उनका निर्मम रूप उनके प्रेयान् क्या प्रेष्ठ होने का।

मुझे यह लगा कि भागवत श्रीकृष्ण भाव की विशाल यात्रा का एक साक्षात् देखा हुआ, भीतर से देखा हुआ विवरण है, इसीलिए वह विवरण इतिहास नहीं है, पुराण है, पुराना न पड़ने वाला है, इसे पढ़ते हैं तो हम अतीत की स्मृति में नहीं खोते, हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं : श्रीकृष्ण सत्ता नहीं हैं, इतिहास पुरुष नहीं हैं, वे भाव हैं, इस देश के स्थायी पर रसायित होने को आकुल भाव हैं। मैंने भागवत या गीतगोविन्द न बाँचा है, न पढ़ा है, भागवत और गीतगोविन्द की सिहरन मुझे कभी-कभी होती है और मुझे लगता है इन ग्रन्थों का जातीय अनुभव स्मृति नहीं है, प्रत्यक्ष है। मैंने जो भी अनुचिन्तन प्रस्तुत किया है, उसमें यही दृष्टि खोजें तो मेरा श्रम सार्थक होगा।

अन्त में एक बात राधा के बारे में। एक दूसरे देवीपुराण में आख्यान है, राम ने अश्वमेध यज्ञ किया तो सीता की स्वर्णमयी प्रतिमा में प्राण प्रतिष्ठित करके उसे सह यज्ञ-भागिनी बनाया। यज्ञ पूरा हुआ, वे स्वर्ण प्रतिमा को विसर्जित करने लगे, स्वर्ण प्रतिमा में प्राण थे ही, बिगड़ गयी, तुम्हारा इतने कठिन कार्य में, पवित्र कार्य में साथ दिया, और तुम मुझे फेंक देना चाहते हो, यह नहीं होगा। वह अपने आसन पर अड़ गयी, राम मनाते रहे, सीता की पूर्ति तुमसे नहीं होगी। पर उसके आग्रह के आगे राम लाचार हो गये, कहा कि अगले अवतार में तुम राधा होगी, तुम्हारा मुझसे नित्य संयोग रहेगा, पर तुमने दुराग्रह किया इसलिए साथ-ही-साथ नित्यवियोग भी रहेगा। इस आख्यान का अर्थ यही है कि एकनिष्ठ प्रेम की साकार प्रतिमा सीता और उस सीता की भावना, प्रतिमा, उस भावना का राधा रूप में प्रादुर्भाव राधा को देह नहीं, भाव-विग्रह बना देता है, राधा न शरीर हैं, न इन्द्रिय, न पत्नी, न पुत्री, वे केवल प्यार हैं। राम में पन्द्रह कलायें हैं, सोलहवीं कला तो यह राधा है, जिसको अमृता कहें, जिसे राधने का व्यापार कहें, जिसे चाहत कहें, जिसे अपने को मिटाकर विराट् का वरण कहें, सब अधिकारों को छोड़कर, सुविधाओं, ऐश्वर्यों को छोड़कर केवल आराधिका के अधिकार का वरण कहें, कुछ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भी कहें, श्रीकृष्ण के जीवन की जीवन मूरि राधा हैं। जयदेव ने ऐसी नित्यसंयुक्त नित्य-विमुक्त मिली-बिछुड़ी राधा को केन्द्र में रखकर भारत के रचनासंसार में ऐसी रसवृष्टि की है, जिससे सब भीगे हुए हैं, पर अभी तक भीगने से अघाते नहीं। श्यामरस में अनघायी राधा की वेकली से कोई कभी नहीं अघायेगा। मैं इसी से वार-वार कहता हूँ हमारी संस्कृति की किशोरावस्था है कृष्ण युग, अर्थात् भागवत की भूमि और प्रौढ़ावस्था है राधायुग अर्थात् गीतगोविन्द की भूमि।

मेरे व्याख्यान के प्रारम्भिक रूप प्रयाग-आकाशवाणी केन्द्र से प्रसारित हुए, वाद में विकसित रूप में राजस्थान विश्वविद्यालय में हुए। इन्हें पूज्य ब्रह्मलीन स्वामी अखण्डानन्द जी ने सुना, प्रेम से सुना, वन्धुवर स्व० पं० वदरीनाथ शुक्ल ने सुना, प्रिय मित्र पं० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, पं० रामचन्द्र द्विवेदी और डा० दयाकृष्ण ने सुना, वहन प्रेमलता जी और स्नेहभाजन रेवाप्रसाद जी, कमलेश दत्त त्रिपाठी ने सुना, इन सवकी प्रीति और आयुष्मती शशि (जिसने कुछ लिपिवद्ध किया था।) की श्रद्धा से संवलित आपके आगे थाल परसी जा रही है, स्वीकारें।

भागवत और गीतगोविन्द से कुछ चुनकर और उसके अनुवाद भी परिशिष्ट में दिये गये हैं। चुनने वैठा तो लगा, चुना तो वहाँ जाता है, जहाँ कुछ सरस हो, उपादेय हो, कुछ विरस हो, हेय हो, यहाँ तो सब सरस, सब उपादेय, कहीं कोई गुठली नहीं, छिलका नहीं केवल रस रूप है, क्या छोड़ें और फिर अनुवाद मैं करूँ, ऐसा दुस्साहस कैसे हो। भागवत और गीतगोविन्द का अनुवाद तो वस हृदय का विगलन, आँखों का छलकना और शरीर का रोमांच है, भाषा तो है ही नहीं। भागवत एक विराट् वाद्यवृन्द है। वड़ा संश्लिष्ट और गीतगोविन्द तो नचाने वाले का भीतरी छन्द है, इनका अनुवाद वन नहीं पड़ा होगा। ग्रन्थ का कलेवर छोटा है, पर मन में वहुत भरा हुआ है, उतना आ नहीं पा रहा है वाहर, वड़ा कृपण मन है। विपुलता के चाहक क्षमा करेंगे। आइये आप भागवत की ओर और फिर गीतगोविन्द की ओर चलें, वहाँ पहुँचें। पहुँचने पर पता नहीं हम आप हम आप रहें या कुछ और हो जायें।

— विद्यानिवास मिश्र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२

श्रीमद्भागवत का दिव्य तत्त्व

श्रीमद्भागवत भारतीय साहित्य का एक अपूर्व ग्रन्थ है। इसे महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य ने श्रीकृष्ण का साक्षात् विग्रह कहा, इसका अभिप्राय शायद यह है कि भागवत पढ़ते या सुनते ही एक ऐसे रस का प्रवाह उमड़ पड़ता है कि उसमें सब डूब जाते हैं, देह-गेह, इन्द्रिय-इन्द्रिय-विषय, मन-बुद्धि, चित्त-अहंकार, देश-काल यहाँ तक अनुभव और अनुभव करने वाला भी नहीं बचता। भागवत की भूमिका में कहा गया है—

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसमें निश्छल और परम धर्म सीधे-सच्चे निर्मत्सर लोगों का धर्म वर्णित है, इसमें जानने योग्य वास्तव रूप से शिवप्रद बात है, जो तीनों तापों का शमन करती है। अधिक और क्या कहें सुनने की सच्ची उत्कंठा रखने वाले व्यक्तियों के हृदय में भागवत सुनते ही ईश्वर उसी क्षण अवरुद्ध हो जाते हैं, बड़ी विवशता से। यह दावा देखने में बड़ा वैसा लगता है कि श्रीकृष्ण जैसे निर्मम और निष्ठुर कभी विवश होंगे, कहीं रोके रुकेंगे, कोई उन्हें कभी बाँध पाया, रोक पाया, वह भी एक नगण्य व्यक्ति के नगण्य से छोटे से हृदय के कोने में, असम्भव है। हाँ व्यक्ति अलबत्ता विवश हो जाता है, जब उनकी कृपा होती है। पर मनुष्य की यह परवशता, यह अकिंचनता, यह रस-प्रवाह में डूबना, क्या अपने आप में श्रीकृष्ण का अवतरण नहीं है, श्रीकृष्ण का परिप्लवन नहीं है, श्रीकृष्ण की उपस्थिति नहीं है, यदि है तो यही उपस्थिति उनकी विवशता है। यही लीला है। वे लीला करते हैं और ऐसी लीला करते हैं कि चर-अचर, जीव-जगत् सब श्रीकृष्ण बन जाते हैं, गाय-बछड़ा, दही, गाय का दूध, दूध दुहने वाला, दूध दुहाने वाली, दही जमाने वाली, जमने की प्रक्रिया, दही का बिलोना, दही से निकला नवनीत सब श्रीकृष्ण हो जाते हैं और तब लीला श्रीकृष्ण के साथ ऐसा करती है कि श्रीकृष्ण दामोदर बन जाते हैं, स्नेह की रज्जु में चोर की तरह बँध जाते हैं, उनकी बड़ी-बड़ी आँखें अँसुवा जाती हैं, आँखों का काजल घुलकर गालों पर फैलने लगता है, थर-थर काँपते हुए खड़े रहते हैं, लज्जित और आहत कि गोपियों की भीड़ जुड़ी है और देख रही है यह दुर्दशा, भव-भय जिनसे भय खाये, उनका यह भय-भाव विमोहित करता रहता है। यह लीला कथा बन जाती है और कथा लीला को शब्द-पाश में बाँध लेती है जिसके कारण कथा-श्रवण बन जाता है लीला का साक्षात् दर्शन और दर्शन बन जाता है श्यामलता का अनन्त विस्तार श्रीकृष्ण का लीला-जाल कैसे कहें नाटक है, झूठ है, या यह लीला-कथा कल्पना है और कोई कहे, है तो सच लेकर करेंगे क्या ? कोई कहे कि यह लीला किसी देश-काल में घटी और व्यतीत हो गयी, अनुसंधान का विषय हो गया वह देश-काल जहाँ लीला घटित हुई और लीला को बाँधने वाली कथा का देश-काल, तो उसका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एक उत्तर तो यह है जो स्वामी अखण्डानन्द जी ने दिया। किसी ने पूछा, भागवत तो बहुत बाद की रचना है, तमिल के आलवार-प्रबन्धों से प्रेरणा लेकर ईसा की आठवीं-नवीं शताब्दी में रची गयी, इसकी प्रामाणिकता क्या होगी ? स्वामी जी ने उत्तर दिया, आपको तब सही बात नहीं मालूम, श्रीमद्भागवत की रचना तो अभी आज प्रातःकाल हुई और यह रचना मैंने की, मैंने ही श्रीमद्भागवत लिखा है, अब आप जो आगे पूछना चाहें मुझसे पूछें। इस उत्तर में ही दूसरा उत्तर निहित है कि एक सनातन प्रवाह को इस रूप में देखना ही झूठ है, अप्रमाण है, श्रीकृष्ण की लीला तो सनातन है और लीला-गान भी सनातन है, लीला और लीला-गान दोनों परस्पर सापेक्ष भी हैं, परस्पर पूरक भी हैं। न लीला के बिना गान है, न गान के बिना लीला। श्रीकृष्ण कभी लीला में उपस्थित होते हैं, कभी लीला-गान में, पर लीला-गान में कुछ अधिक ही, क्योंकि उस समय जो देश-काल का विसर्जन होता है, वैसा तो लीला में भी नहीं हुआ होगा, यही न हुआ होगा कि उस समय रात क्षण हो गयी होगी और क्षण बिलम गया होगा, यमुना-पुलिन चाँदनी बन गया होगा, चाँदनी रेत बन गयी होगी, परन्तु गान में तो कोई भी समय नहीं रहता है, न कोई देश, केवल एक अनवच्छिन्न प्रवाह रहता है जिसे आप गोपवेष विष्णु कहें, श्रीकृष्ण कहें, उज्ज्वल नीलमणि कहें, गोपियों की आँखों का अंजन कहें, उनके कानों का कुण्डल कहें, कुछ भी कह लें पर वह प्रवाह कब से है, कहाँ से है, इसकी उत्सुकता के लिए कहीं अवकाश नहीं रहता वह है और हम हैं, हम और वह दो सत्ताएँ नहीं हैं, इतना ही भान रहता है। ऐसी है वह कथा जिसकी साहित्यिक गुणवत्ता की चर्चा करने जा रहा हूँ। ब्रह्मलीन स्वामी करपात्री जी कहा करते थे कि वास्तविक साहित्य तो हमारी जानकारी में बस दो ग्रन्थों में है श्रीमद्-भागवत में और रामचरितमानस में। मैंने पूछा भी—महाराज जी, वेद, महाभारत, रामायण, कालिदास के काव्य, भवभूति के नाटक, बाणभट्ट की कादम्बरी, कबीर, सूर, मीरा के पद यह सब भी तो साहित्य है। उन्होंने उत्तर दिया—साहित्य का प्रयोग मैं उसके शुद्ध अर्थ में सहित होने के भाव के अर्थ में कर रहा हूँ और साहित्य शब्द

Dr. Urmila Sharma Gollection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और अर्थ के सहित होने के कारण यदि साहित्य है और हित का भाव रखने के कारण भी साहित्य है तो वह पूर्ण साहित्य नहीं है और उस दृष्टि से ये सब साहित्य मानते हैं तो कोई बात नहीं पर साहित्य का अर्थ तो तब सम्पूर्ण होगा, जब पाठक-श्रोता-कवि-वाचक, नर-नारायण, जीव-ब्रह्म सब साथ हो लें, एक ही वृक्ष पर दोनों सुपर्ण रहें, पर न कोई देखनहार रहे, न चाखनहार, दोनों वृक्ष के साथ एकात्म रहें और ऐसा साहित्य बस इन्हीं दोनों ग्रन्थों में मिलता है। मैं तब भी उनके उत्तर से संतुष्ट नहीं हुआ, उन्होंने अपनी **भागवतसुधा** की पाण्डुलिपि मुझे सम्पादित करने के लिए दी, यह उनके प्रवचनों के ध्वन्यंकनों का लिपिबद्ध रूप थी, स्वामी जी को चिकित्सकों ने पढ़ने-लिखने से मना कर रखा था। मैंने इसे पढ़ा, इसी समय स्वामी अखण्डानन्द जी के भागवत-व्याख्यानों का अध्ययन करने का भी अवसर मिला। फिर मैंने स्वयं भागवत का नये सिरे से पारायण किया। तब जाकर कुछ-कुछ पूज्य स्वामी जी के इस कथन का अर्थ लगा कि श्रीमद्भागवत में वास्तव साहित्य है। इस साहित्य को समझने के लिए व्यक्ति स्वयं परमहंस बने न बने और नहीं ही बनेगा, पर उसे यह आभास जरूर हो जायेगा कि परम तृप्त परमहंसों की भी प्यास जिस तीर्थ में पहुँचकर नहीं मिटती, उलटे और बढ़ जाती है, ऐसी सनातन अतृप्ति जगाने वाला तीर्थ भागवत ही है, क्योंकि सामान्यजन भी एक बार मन से पढ़े तो भागवत को बार-बार पढ़ना चाहेगा।

एक शर्त जरूर है, भागवत या मानस पढ़ना हो तो चोंच मारने का भाव न हो, डूबने का मन हो। वह मन तभी बनता है, जब त्रिताप प्रबल हो जाते हैं, अंधकार लील जाता है, दिक्काल का बोध, कर्ता और ज्ञाता का मद झर जाता है, जब मनुष्य अपने को तृण से भी तुच्छ बना लेता है, तरु से भी अधिक सहिष्णु बना लेता है, मान लेने नहीं मान देने के लिए प्रस्तुत हो जाता है और जब अपनी क्षुद्रता विशाल में बहाने के लिए अकुला जाता है।

श्रीमद्भागवत का प्रारम्भ ऐसे ही भाव से होता है, कृष्ण द्वैपायन व्यास ने महाभारत रचकर, पुराण रचकर, वेद को संहिताबद्ध करके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भी मन में खालीपन अनुभव किया, सोचने लगे, कुछ तो नहीं किया जिससे मन भरे, ज्ञानदीप दिखलाया, पर मेरा स्वयं का मन तो दीपित ही नहीं हुआ। नारद आये, जैसा कि वे रामायण की रचना के पूर्व आये थे, वे मोह के प्रत्येक क्षण में नारायण के दूत बनकर आते हैं, बोले—इतना सब कुछ किया, तब भी इतना पछतावा क्यों, "अथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थं इव प्रभो ?" व्यास ने कहा—हाँ ऐसा ही कुछ है, आप ही मेरी इस खिन्नता का निदान करें। नारद ने कहा—मैं कोई और कारण नहीं सोच पाता, शायद आपने भगवान् वासुदेव की लीला अब तक नहीं गायी, नैष्कर्म्य की बात की, पर अच्युत भाव के बिना नैष्कर्म्य का क्या अर्थ और आँखों के अंजन बने श्रीकृष्ण के भाव के बिना निरंजन ज्ञान भी मल ही है—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्।

—१।५।१२

आप समाहित मन से उस अच्युत भाव की बात करें जो एक बार मिल जाय तो च्युत ही नहीं होता। नारद ने यह भी कहा कि मुझे जो इस लीला का रस मिला, उसका इतिहास यह है कि मैं दासी का पुत्र था। मेरी मा साधुओं की सेवा करती थी, इसके कारण मैं बचपन से ही सत्संग में लीलानुवाद का रस पाने लगा, मा चल बसी, साधु मण्डली के साथ विचरने चल पड़ा मेरी प्रीति उनसे भगवान् का 'गुणानुवाद' सुनते-सुनते कथारस में बढ़ती गयी और भगवान् के लिए आकुलता में परिवर्तित हो गयी, उस जन्म में एक क्षण को एक झलकभर भगवान् की दिखी पर उस झलक ने मिलने की देखने की प्यास जगा दी। इसी कारण मुझे कल्पान्तर में नारद देह मिली। भगवान् बड़े विचित्र हैं, ये स्वयं तो निष्किंचन हैं ही, जिस पर प्रीति करते हैं, उसे भी पहले निष्किंचन बनाकर रख देते हैं। आज आप निष्किंचनता का अनुभव कर रहे हैं, आप उनकी प्रीति के पात्र हो गये हैं।

ऐसे विरेचित, निष्किंचन व्यास ने ध्यान-योग से भागवत कथा रची, उसे निष्किंचन शुकदेव को बतलाया, शुकदेव ने मृत्यु के शाप से पीड़ित निष्किंचन हुए परीक्षित को सुनाया, सुनाते समय पहले यह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संकेत किया कि भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने महाप्रयाण के पहले उद्धव को भागवत तत्त्व की दीक्षा दी, उन्हें बदरिकाश्रम भेजा था। विदुर की भेंट उद्धव से हुई, उद्धव ने कौरव-पाण्डवों के महाविनाशकारी युद्ध की, यादवों के कलह और विनाश की, श्रीकृष्ण के महाप्रयाण की कहानी सुनायी और संक्षेप में अपनी आँखों के सामने घटती हुई-सी लीला का स्मरण किया। दो निष्किंचन एक-दूसरे से भगवान् श्रीकृष्ण के महाप्रयाण के बाद मिले, उद्धव और विदुर दोनों भाव-विह्वल हो गये, विदुर कुछ और जानना चाहते थे, उद्धव ने कहा, भगवान् ने मैत्रेय ऋषि को आदेश दिया है कि आपको भागवत तत्त्व का उपदेश करें। इस प्रकार सूत-शौनक संवाद, शुक-परीक्षित संवाद, मैत्रेय-विदुर संवाद और श्रीकृष्ण-उद्धव संवाद इन चार संवादों में भागवत-कथा पूरी होती है। पर कथा के लिए पात्रता आती है श्रीकृष्ण के उस अनुग्रह से जिसमें सब कुछ जिसे किंचन या कुछ कहा जा सकता है, छिन जाता है, बस रिक्तता भर जाती है, उस रिक्तता में पर्युत्कंठा जगती है, कब आयेगा वह प्लावन जो भर देगा, कब बरसेंगे वे घनश्याम, कब हर लेंगे सब ताप, उज्ज्वल नील रंग से सब ज्ञान।

इस उत्कण्ठा के तीन स्तर हैं, जैसा कि मृत्यु के समय वृत्रासुर ने आकुल होकर कहा था। एक उत्कंठा है असहाय चिरौटे की, पंख नहीं उगे हैं, दिन भर घोंसले में कुलबुलाते रहता है, घोंसले के मुँह से झाँकता रहता है, शाम होते ही भय और अकुलाहट से माँ की बाट जोहने लगता है, वह कब आयेगी और चोंच खोलकर स्वयं चारा डालेगी। इस अवस्था में निस्सहायता चरम है और केवल एक सहारा मालूम है, दूसरा सहारा भी नहीं मालूम। दूसरे शब्दों में केवल इच्छाशक्ति है। दूसरी अवस्था है, जिसमें अपनी भी कुछ क्रियाशक्ति है, पर सीमित है, वह शक्ति माँ के स्तन्य से मिलती है और दिन ढलते ही जैसे बछड़े को भूख सताती है और उसकी माँ भी अकुलाती हुई रंभाती हुई आती है और बछड़े की ओर से पिन्हा जाती है, उत्कण्ठा दोनों ओर उग्रतर हो जाती है इस तीसरी अवस्था में ज्ञानशक्ति नहीं है। तीसरी अवस्था है जिसमें इच्छा, क्रिया और ज्ञान तीनों शक्तियों का विकास रहता है और इसी से जिसमें आकुलता का चरम उत्कर्ष

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आ जाता है, इस आकुलता में कुछ भी अपेक्षा नहीं रहती, वस जैसे परदेश गये प्रिय आने को अवधि दे गये, अवधि वीती जा रही, प्रिया सोचने लगी, आ क्यों नहीं रहे, या शायद आ रहे हैं, नहीं, अब नहीं आयेंगे, क्यों नहीं आये, कितने संकल्प-विकल्प होते हैं और उसकी प्रतीक्षा दुःसह हो जाती है, एक-एक पल छटपटाहट का एक शिखर बनता जाता है, साँस में अकुलाहट समा जाती है, कमलनयन को देखने के लिए आँखें बन्दनवार बन जाती हैं। सारी शक्तियाँ आत्मिक बेचैनी में विलय पा जाती हैं।

अजातपक्षा इव मातरं खगास्तन्यंय था वत्सतराः क्षुधार्त्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोरविन्दाक्ष दि दृक्षते त्वाम् ॥

भागवत सोपानशः श्रीकृष्ण के लिए यही तरस पैदा करता है।

भागवत का आरम्भ श्रीकृष्ण की उपस्थिति और अनुपस्थिति के दो चित्रों से होता है और इन्हीं चित्रों के माध्यम से निर्वृति के दो स्तर उभारे गये हैं। एक परमसुख-रूपा और एक परमदुःख-रूपा। श्रीकृष्ण महाभारत-विजय के बाद युधिष्ठिर को भीष्म के पास ले जाते हैं—इनसे जो सीखना हो सीख लो, भीष्म के पैताने खड़े हो जाते हैं, भीष्म उपदेश देकर गणना करते हैं कि अब सूर्य उत्तरायण होने को है, अब शरीर छोड़ना है, शरीर छोड़ने के पहले श्रीकृष्ण से प्रार्थना करते हैं और सामने आ जाओ, मैं बस तुम्हें देखना चाहता हूँ, तुम्हारी अकुलायी परेशान मुखच्छवि अपने भीतर पाना चाहता हूँ, जब युद्ध में घोड़ों की टापों से रौंदी जाती धरती के धूलि-कणों से तुम्हारे लहराते केश सने हुए, बार-बार तुम्हारे पसीने-पसीने होते चेहरे पर आ जाये और पसीना पोंछने लगें, तुम्हारा कवच मेरे बाणों से छिद गया हो, तुम मेरी बात रखने के लिए कि युद्ध में हथियार धारण करने को विवश कर दूँगा, अपनी प्रतिज्ञा भूल गये और रथ का चक्का लेकर मुझे मारने दौड़ पड़े, मैं उस अकुलाहट को ध्याना चाहता हूँ, मेरे वेध्य, आओ मुझे वेध्य बनाओ—

युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक् कचलुलितश्रमवार्यलंकृतास्ये।
मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा ॥

श्रीकृष्ण की यह धूलिधूसर थकान और परेशानी बड़ी मोहक है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बचपन में भी जब वे गउओं की धूलि में सने तन से गायों को आगे करके लौटते थे तो प्रतीक्षालु गोपियों की आँखों के उत्सव बन जाते थे, विरह व्रत की उपासी आँखों के पारण बन जाते थे—

उत्सवं श्रमरुचापि दृशीनामुन्नयन् खुररजश्छुरितस्रक् ।
दित्सयेति सुहृदाशिप एष देवकीजठरभूरुडुराजः ॥

मन्मथ का मन भी मथने वाले श्रीकृष्ण जब विक्षुब्ध हों, आकुल हों, जब अनन्त समुद्र अपनी स्थिरता न रख सके, जब कूटस्थ परब्रह्म आकार ग्रहण करने को आतुर हो उठे, तब उनकी छवि और मोहक हो जाती है। वह उपस्थिति एक महापर्व है, जीवन का महान् उत्सव है। ऐसे उत्सव पर हज़ार-हज़ार विपदायें न्यौछावर, जिन विपदाओं के कारण वे झाँकने आ जाते हैं जैसे कि कुन्ती ने श्रीकृष्ण के विदा होते समय कहा था—

विपदः सन्तुनः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो ।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥

कुन्ती ने कहा, तुम जा रहे हो, तुम एक पल निहार देते थे, ये वन, पर्वत, नदियाँ उल्लसित रहते थे, इसकी सब शोभा छीने जा रहे हो तुम। श्रीकृष्ण द्वारका चले गये, इन्द्रप्रस्थपुरी उदास हो गयी, द्वारका विहँस उठी, उनसे मिलने को आतुर उनकी बाट जोहती पत्नियाँ उमंग में शिथिल उठ नहीं पायीं, बच्चों को भेजा, इन्हें गोद में ले लें, अपनी दृष्टि वहीं लिपटा दी और अन्त में मिलने की अभिलाषा तो पूरी न होनी थी, पूरी नहीं हुई, अन्तरात्मा से कहा तुम मत चूको, भर लो उन्हें और अन्तरात्मा तो भरी ही, उमगी भी, आँखें छलक आयीं, बहुत रोका कि प्रिय भीतर ही रहें, प्रिय के मिलने का सुख भीतर ही रहे, पर वह सुख कहाँ समाता है, आँसू बनकर बह चला—

तमात्मजैर्दृष्टिभिरन्तरात्मना दुरन्तभावाः परिरेभिरे पतिम् ।
निरुद्धमप्यास्रवदम्बु नेत्रयोर्विलज्जतीनां भृगुवर्य वैक्लवात् ॥

अब दूसरा चित्र अनुपस्थिति का लें।

श्रीकृष्ण का समाचार नहीं मिला, अर्जुन द्वारका गये, लौटे तो हर प्रकार से लुटकर। उनका सारा तेज चला गया, युधिष्ठिर उन्हें देखते ही घबड़ा उठे, प्रश्न पर प्रश्न करने लगे, कौन पाप तुमसे हुआ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कि तुम्हारा चेहरा श्रीहीन हो गया, अन्त में अनुमान लगाया—हो न हो, यह इस कारण है कि श्रीकृष्ण चले गये और तुम्हें लगता है प्रेष्ठतम आत्मबन्धु और हृदयरूप श्रीकृष्ण के बिना सब सूना है, नहीं तो ऐसी मलिनता क्यों तुम्हारे चेहरे पर होती—

कच्चित्प्रेष्ठतमेनाथ हृदयेनात्मबन्धुना।
शून्योऽस्मि रहितो नित्यं मन्यसे तेऽन्यथा न रुक्॥

और अर्जुन कुछ देर तक चुप रहकर फूट-फूटकर रो पड़े, महाराज, बन्धु बनकर हरि ने मुझे धोखा दिया, ऐसे चले गये, मेरा वह सारा तेज लेते गये जिससे देवता भी विस्मय में पड़ जाते थे। उनके वियोग में सब अशुचि हो गया है। प्राण चले जायें, शरीर शव हो जाता है, वैसे ही यह पृथ्वी शव हो गयी है, इसे देखा नहीं जाता।

वंचितोऽहं महाराज हरिणा बन्धुरूपिणा।
येन मेऽपहृतं तेजो देवविस्मापनं महत्॥
यस्य क्षणवियोगेन लोको ह्यप्रियदर्शनः।
उक्थेन रहितो ह्येष मृतकः प्रोच्यते यथा॥

उस अनुपस्थिति में ऐसे वंचित होने का भाव जो वर्णित होता है कि वही धनुष है, वही बाण है, वही रथी मैं हूँ, जिसके आगे नृपति सिर झुकाते थे और क्या हो गया श्रीकृष्ण के न रहते, सब व्यर्थ, जैसे भस्म में आहुति व्यर्थ हो जाय, कुहासे को धूम मानकर पकाया अन्न व्यर्थ हो जाय, ऊसर में बोया बीज व्यर्थ हो जाय। जीवन का सब प्रयोजन ही चला गया—

तद्वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते
सोहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति।
सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं
भस्मन् हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्याम्॥

राम की अनुपस्थिति में अयोध्या की अँधियारी रात का भी ऐसा ही चित्र मानस में मिलता है—

लागति अवध भयावनि भारी।
मानहु कालराति अँधियारी॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

घोर जन्तु सम पुर नर नारी।
डरपत एकहिं एक निहारी॥
घर मसान परिजन जनु भूता।
सुत हित मीत मनहुँ जमदूता॥

उस विराट् की अनुपस्थिति का विराट् अनुभव ही भागवत का घनाच्छन्न आकाश है और ऐसे अनुभव की छाया में मृत्यु के बोध से जगी हुई प्यास ही उस आकाश को पिघलाती है और ऐसा रस बरसता है कि मोक्ष भी अपार्थ हो जाता है, बड़े-से-बड़ा सुख तुच्छ और हेय हो जाता है। मरण पीड़ा ही द्वार है, दीक्षा है भागवत के रहस्य की।

परीक्षित की इस मरण-दीक्षा से प्रेरित होकर सात दिनों तक कहीं जितनी देर गाय दूही जाय उससे अधिक न टिकने वाले शुकदेव गंगा के किनारे टिक गये एक प्रश्न का उत्तर देने के लिए कि मृत्यु के इस क्षण में क्या करना चाहिए? मृत्यु के द्वारा उपस्थित रिक्त को कौन भरेगा? उत्तर है भागवत। जो व्यक्ति के रूप में मर जाते हैं, विदेह हो जाते हैं, उन्हें कौन भरता है, यह भागवत। जो श्रीकृष्ण के विरह में ऐसे तड़पने लगते हैं, जैसे अपने प्राण हेर रहे हों, हर एक दिशा में, उन्हें कहीं धरोहर रखा था, वह धरोहरी कहाँ गया, उन्हीं की तड़पन का, आत्माराग मुनियों के मन की अविराम लालसा का आलम्बन ही भागवत का आलम्बन है, ऐसा आलम्बन है जो साथ ही साथ उद्दीपन भी है, वह विभावमात्र नहीं, वही भाव भी है, अनुभाव भी है। श्रीकृष्ण प्यार के आलम्बन हैं, श्रीकृष्ण ही उद्दीपन हैं, क्योंकि जगत् की समस्त उद्दीपन सामग्री के वे आलम्बन हैं। मेघ उनके लिए आँसू बहाता है, चन्द्रमा उनके विरह में पीला पड़ता है, समुद्र उनके लिए विलखता है, श्रीकृष्ण ही रोमांच हैं, अश्रुपात हैं, मूर्च्छा हैं, श्रीकृष्ण ही तरह-तरह के संचारी हैं, ईर्ष्या, असूया में भी श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्ण हैं और श्रीकृष्ण ही प्यार हैं, शायद प्यार ही उनका सबसे अधिक साकार विग्रह है। श्रीकृष्ण को देखना हो तो झुरमुटों झाड़ियों को देखो जिन पर पर्त की पर्त श्रीकृष्ण के विरह में विह्वल गोपियों की पद-रज पड़ी हुई हैं, उस रज ने उन वनस्पतियों का अर्धोन्मीलित चैतन्य उन्मीलित कर दिया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

भागवतकार ऐसी चैतन्यलीला के लिए पहले ज्ञान-भूमि तैयार कर रहे हैं, तीसरे स्कन्ध से सातवें तक में एक तत्त्व-दर्शन देते हैं कि निर्गुण भी स्वेच्छा से कैसे और क्यों गुणवान् होता है, वे निखिल सृष्टि का विस्तार बतलाते हैं, अवतारों के सोपानों का वर्णन करते हैं, भगवद्भक्तों की लम्बी परम्परा का परिदृश्य प्रस्तुत करते हैं, ध्रुव जैसा बालहठी, वृत्र जैसा पराक्रमी इन्द्रशत्रु, प्रह्लाद जैसा असुर-पुत्र, बलि जैसा दानी-अभिमानी, अजामिल जैसे पापी कैसे नारायण की ओर अभिमुख होते हैं और कैसे नारायण सबको आश्रय देते हैं, इसका वर्णन करते हैं। इन स्कन्धों में विराट् तत्त्व और विराट् सृष्टि के परिचय की पीठिका तैयार होती है, इसी पीठिका पर पूर्णतम लीला का वितान होता है।

इसके अनन्तर वे भागवत के हृदय श्रीकृष्ण-लीला-आख्यान के पास पहुँचते हैं। श्रीकृष्ण लीला का रस ज्ञान-कर्म-भक्ति तीनों सोपानों को पार करके मिलता है, कच्चे घड़े में यह रस नहीं रखा जा सकता, कड़ी आँच में पके घड़े में ही यह रस टिकता है। श्रीकृष्णलीला का माधुर्य आस्वादन करने वाली इन्द्रियाँ पहले वनचारण के लिए जाती हुई गौवों की तरह श्रीकृष्ण के चरणों का अनुसरण करती हैं और जब श्रीकृष्ण का रस उनमें भर जाता है तो वे आगे हो जाती हैं और श्रीकृष्ण उनके पीछे-पीछे चलने लगते हैं, जो आँखें श्रीकृष्ण को निरखती हैं, श्रीकृष्णमय हो जाती हैं। फिर उनमें कुछ और देखना नहीं होता, श्रीकृष्ण ऐसी आँखों को देखने के लिए स्वयं अकुला जाते हैं, श्रीकृष्ण स्वयं बछड़ा बन जाते हैं, गोपबाल बन जाते हैं, गो-गोपियों का वात्सल्य पाने के अभिलाषी। वृन्दावन से श्रीकृष्ण प्रस्थान करते हैं तो अक्रूर को यमुना जल में और यमुना तीर पर एक साथ दो-दो रूपों में श्रीकृष्ण दिखलायी पड़ते हैं, वृन्दावन की ओर मोर-मुकुटधारी गोपबालरूप और यमुना में चतुर्भुज विष्णुरूप। अक्रूर के रथ पर वह विष्णुरूप ही जाता है, गोपाल वृन्दावन में ही रह जाते हैं, इसीलिए उद्धव वृन्दावन जाते हैं, बलराम जाते हैं, श्रीकृष्ण वृन्दावन नहीं लौटते, क्यों लौटें, वे तो वहाँ अभिव्याप्त हैं, वहाँ के भूताकाश में, चिदाकाश में, बस कुरुक्षेत्र में जहाँ उन्हें गीता का उपदेश

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देना है, सूर्यग्रहण के अवसर पर मथुरा-वृन्दावन से आये बन्धुओं से सुहृदों से सखियों से मिलते हैं, मानो अपनी ही बिछुड़ी हुई प्रकृति से मिलते हैं। गोपियाँ जब श्रीकृष्ण से मिलीं तो ऐसा लगा कि अब इतने दिनों बाद दिखे हैं, इन्हें अपना लें, देख लें, देखें ही न, आँखों के द्वार से इन्हें हृदय में रख लें और इन्हें भर लें, अब ये जाने न पायें और भागवतकार कहते हैं कि इन गोपियों को वह भाव प्राप्त हुआ जो उनसे जुड़े लोगों को भी कठिनता से कभी-कभी मिलता है। गोपियों को वह भाव सहज मिल गया, देखना ही होना हो गया।

गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं
यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति।
दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वा-
स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम् ॥

श्रीकृष्ण ने उन्हें देखा और फिर उनके होकर उनसे मिले। कुशल समाचार पूछा। कैसी विडम्बना है, श्रीकृष्ण क्षमायाची स्वर में पूछ रहे हैं—सखियो, हम निठुर विस्मृतिशील सहचर की याद तुम्हें आती है, कितने दिन हुए, तुमसे मिला नहीं, दुष्टों के संहार में लगा रहा, किन कार्यों में यह मन अटका रहा। मुझे अकृतज्ञ न मानना, मैं तुम्हारा ऋणी हूँ। यह संसार ही संयोग-वियोग का वितान है, दुरन्त विरह है। इतने में ही श्रीकृष्ण ने सब कुछ कह दिया और गोपियाँ ऐसी निहाल हुईं कि उनका जीवकोश ध्वस्त हो गया, उनकी देह बन्धन न रही, वह भावरूप हो गयी और उन्होंने कहा, इस रस बने देह गेह में बस तुम्हारे कमल खिलते रहें। भागवत में श्रीकृष्ण के वचन इस प्रकार हैं—

अपि स्मरथ नः सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया।
गतांश्चिरायिताञ्छत्रुपक्षक्षपणचेतसः ॥

गोपियों का उत्तर यह है—

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
गेहञ्जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जो योगेश्वरों के अगाध हृदय में कमल खिलता है, वह इस देह-गेह में रहते हुए घरबारी मन में सदा-सदा खिलता रहे। भागवतकार ने नारीदेह को और नारीचित्त को जो प्रतिष्ठा दी, विशेष रूप से सहज जीवन बिताने वाले देह और चित्त को, वह प्रतिष्ठा ब्रह्मा, नारद, शुक, उद्धव तक की स्पृहा का विषय है।

भागवत में इसी से कृष्ण जब इस धरा-धाम पर लीला का संवरण करते हैं तो वे पुनः सब व्यष्टि भावों को समेटकर एकाकी विराट् हो जाते हैं सबको विदा कर देते हैं, उद्धव को ज्ञान देकर और अपनी चरण पादुका देकर, जाओ बदरिकाश्रम जाकर भागवत भाव जगाओ, नर-नारायण के साहचर्य का अनुभव कराओ, उद्धव विज्ञान-मय होकर भी सान्निध्य छोड़कर जाना नहीं चाहते, बार-बार जाते हैं, बार-बार लौटते हैं—

सुदुस्तजस्नेहवियोगकातरो
न शक्नुवंस्तं परिहातुमातुरः।
कृच्छ्रं ययौ मूर्धनि भर्तृ पादुके
बिभ्रन्नमस्कृत्य ययौ पुनः पुनः॥

इसके बाद द्वारका से अलग प्रभास तीर्थ चले जाते हैं उनके पहले बलराम योगक्रिया से शरीर त्याग करते हैं। श्रीकृष्ण अपने अधिष्ठान रूप अनन्त मानुष भाव (बलराम) के विदा होने पर निपट अकेले नदी तट पर एक पीपल की जड़ों पर सिर टेके लेट जाते हैं और अपना दायाँ चरण मोड़कर छाती पर रख लेते हैं, जैसे जाँच रहे हों, इस चरण में मेरे हृदय में बसे प्रियजनों की कितनी प्रीति है, मेरा हृदय भी अनुभव कर ले। लोहे के मुसल का एक टुकड़ा समुद्र में छिटक गया था, वह मछली के पेट से जरा नामक व्याध ने निकाला और उसका तीर बनाया, छाती पर मुड़े पैर को दूर से देखा, उसे मृग की आकृति का भ्रम हुआ, उसने तीर चलाया, पास आया तो उसे चतुर्भुज रूप दीखा, चरणों में गिरा, अज्ञान में पाप हुआ, कैसे निष्कृति हो, मुझे मार डालो। श्रीकृष्ण ने कहा—तुम तनिक भी डरो मत, तुमने मेरी निष्कृति की है, मैंने यदुवंश में जन्म लिया, ऋषि के शाप का एक टुकड़ा मुझे भी लगना ही लगना था, उसके पूर्व यह देह नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

छूटती, तुम अब दिव्य शरीर धारण करके स्वर्ग जाओ। जरा भी चला गया।

प्रभु को खोजते-खोजते उनके पदचिह्नों को देखते-देखते दारुक वहाँ पहुँच गये, पदचिह्न से अधिक बलवान् प्रमाण थी तुलसी की उस माला की गन्ध जो श्रीकृष्ण की छाती पर विराजमान रहती है, दारुक रथ लेकर विह्वल होकर बोले—प्रभु तुम मुझे छोड़कर क्यों आ गये, मैं कहाँ जाऊँ, मैं सारथि हूँ। इतना कहते-कहते गरुड़ध्वज रथ घोड़ों के समेत देवलोक को चला गया, उसी के साथ पांचजन्य शंख, सुदर्शन चक्र, कौमोदकी गदा, शार्ङ्ग धनुष ये सभी वैष्णव आयुध चले गये। श्रीकृष्ण निपट मनुष्य पर विराट् मनुष्य होकर रह गये, दारुक को उन्होंने विदा किया, द्वारका जाओ, यदुकुल के विनाश का समाचार दो, अन्त्येष्टि की व्यवस्था करो, बचे लोगों से कहो द्वारका छोड़ दें, इन्द्रप्रस्थ चले जायें, अर्जुन आते होंगे। समुद्र द्वारका को मेरे जाते ही लील जायेगा। क्या करता, दारुक भी चला गया। श्रीकृष्ण के पास कोई नर नहीं रहा, नारायण का कोई साज नहीं रहा, जिस धरती पर वे नंगे पैर बचपन में चले, जिसे अपने स्पर्श से पुलकित किया, जिसकी रज से स्वयं शोभित हुए, उसी धरती पर उसी की धूलि में सने श्रीकृष्ण जाने कब चले गये। किसी मनुष्य ने नहीं देखा, केवल देवताओं ने, पितरों ने, सृष्टि के विधाता ने, उमा-महेश्वर ने देखा कि धरती का सर्वस्व छिना जा रहा है, जिसके सौभाग्य के लिए स्वर्ग तरसता है और तरसता रहेगा, देवताओं का मन ललकता रहेगा कि हाय हमें नरलीला के रस में हिस्सा क्यों न मिला, कल्प-कल्प जीने से क्या लाभ, अल्पायु मनुष्य ने जो यह सम्भावना पायी कि अपनी ही सजातीय देह में अधिष्ठित नारायण का स्पर्श करके स्वर्ग-अपवर्ग के लाभ का तिरस्कार कर दे, उसे एक क्षण में ही सृष्टि का सर्वस्व प्रयोजन प्राप्त हो गया।

भागवतकार ने श्रीकृष्ण लीला रस से सिक्त भारतभूमि के लिए देवताओं की तरस का जो वर्णन किया है, वह सबसे उत्तम राष्ट्रगीत ही नहीं, मानव-गीत भी है, उसके कुछ श्लोक इस प्रकार हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

अहिलाय ग्रन्थालय,
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
येर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥

किं दुष्करैर्नः क्रतुभिस्तपोव्रतैर्दानादिभिर्वा द्युजयेन फल्गुना।
न यत्र नारायणपादपंकजस्मृतिः प्रमुष्टेतिशयेन्द्रियोत्सवात्॥

कल्पायुषां स्थानजयात् पुनर्भवात्
क्षणायुषां भारतभूजयो वरम्।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः
संन्यस्य संयान्त्यमयं पदं हरेः॥

क्या होगा स्वर्ग लेकर, जिसमें योग के अतिशय में नारायण की स्मृति चली जाय, क्षण-भर की मानव देह पाकर यह सम्भावना तो है कि नारायण का अभय पद मिल सकता है, केवल एक क्षण में झटके से लिये गये संकल्प से कि सब अर्पित कर दो नारायण को, अपना कुछ न रखो।

भागवत भारत भूमि का हृदय है, बड़ा ही कठोर और वड़ा ही कोमल, श्रीकृष्ण की तरह। जो इसे वाँचकर जीविका चलाता है, उसके हाथ में आकर निकल जाता है, जो पूरा अर्थ नहीं समझता पर किसी एक क्षण में कहीं किसी प्रसंग पर विगलित हो जाता है, अश्रु और रोमांच बन जाता है, भागवत उसका हो जाता है। श्रीकृष्ण भी ज्ञान सम्पन्नों योगसम्पन्नों के उतने नहीं होते जितने अकिंचन और सहज व्यक्ति के होते हैं।

भागवत इतना दारुण है कि नरदेह को (नारायण की ही क्यों न हो) अन्तिम क्षण में आविद्ध किये विना नहीं मानता और नारायण को अभियुक्त वनाये बिना नहीं रहता, क्यों देते हो प्यार सर्वस्व छीनने के लिए, क्यों देते हो ममता दूसरी ममता को ध्वस्त करने के लिए, क्यों देते हो भटकाव, कंटीली झाड़ियों में, जव तुम्हें आँख मिचौली ही खेलते रहना है। और साथ ही इतना कोमल है कि एक साँसों की फूँक से जड़ को चेतन कर देता है, वृक्षों में पुलक भर देता है, नदियों की लहर रूपी अंजलियों में कमलोपहार रख देता है कि चढ़ाओ उन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चरणकमलों पर जो तुम्हारे पुलिनों पर महक रहे हैं।—

नद्य स्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतमावर्त्तलक्षित मनोभवभग्नवेगाः।
आलिंगनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारेर्गृह्णन्ति पादकमलं कमलोपहाराः॥

भागवत का काव्य शरत् काव्य है, मेघ बरस कर उजला जाये, नदी का जल घटकर निथर जाये, संतृप्त पृथिवी काश वनराजियों से विहंस उठे, आकाश स्वच्छ हो जाय, शुद्ध निष्कल ब्रह्म की तरह और उसमें अमृत कलश चन्द्र अमृत से भर जाय, भर क्या जाय, अमृत समाये न समाय, सारे रंग केवल श्यामलता में समा जायें, सारे राग विराट् विराग में समा जायें और विराग ही एकमात्र राग रह जाय, ताप की ललाई सफेदी बन जाय, तब भागवत के रस का, समष्टि में रासशील नर्त्तनशील रस का सही माने में प्रादुर्भाव होता है। कैसे तो समझें और कैसे समझायें इसके मर्म को, भागवतकार की दृष्टि को कैसे निरखें, जो दृष्टि शरद् ऋतु के सरोवर में खिले सचाई के सरोज के भीतरी पटलों की शोभा चुराकर निहार रही है, निहार क्या रही है, समस्त रागों की रंगत हर रही है।

भागवत कथा का एक नीरस सा क्रम तो देना सम्भव था, दे दिया। अब किन-किन चुने प्रसंगों पर विशद चर्चा करें, समझ में नहीं आता, कोई प्रसंग तो ऐसा नहीं है जिसे छोड़ा जा सके—

दुस्त्यजस्तत्प्रसंगः।

उस बाल लीला की बात करें जिसके बारे में कुन्ती ने कहा था, और जिसकी चर्चा मैंने प्रारम्भ में की—तुम्हारा अपराधी भाव से बाँधा जाना मुझे बड़ा अच्छा लगता है।

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्
या ते दशाश्रुकलिलांजनसम्भ्रमाक्षम्।
वक्तं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यद् बिभेति॥

गोपियों के हाथ की कठपुतली बने श्रीकृष्ण की बात करें जो गोपियाँ जैसे नचातीं नाचते, जैसे गवातीं गाते, कभी पीठक लाकर देते, कभी नापने का बर्तन लाकर देते, कभी पादुका लाकर देते, कभी बाँहें दबाते।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गोपीभिः स्तोभितो नृत्यद् भगवान् बालवत् क्वचित् ।
उद्गायति क्वचिन्मुग्धस्तद्शो दारुयन्त्रवत् ॥
बिर्भात्ति क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोत्मानुपाददत् ।
बाहुक्षेपं च कुरुते स्वानां च प्रीतिमावहन् ॥

अथवा उस प्रसंग का उल्लेख करें जब ब्रह्मा ने बछड़ों और ग्वालबालों को छिपा दिया, तब श्रीकृष्ण ने अपने को हजार-हजार बछड़ों और ग्वालबालों के रूप में परिवर्तित करके, स्वयं उनके अलंकरण, उनकी लकुटी, उनकी वेणु, उनका परिधान, उनका शृंगार बन के जो कौतुक किया। ऐसे ग्वालबालों को पाकर माताएँ निहाल हो गयीं।

दूध की धार बह चली, लो कितना पियोगे।

प्यासे परब्रह्म, गायें रँभा उठीं, आज परब्रह्म दूध पीयेंगे, इतनी पिन्हायीं, इतना दूध उतरा कि परब्रह्म नहीं पी सके और उस जूठे दूध को गायें परम तृप्ति से चाटने लगीं, मानो जाँचने के लिए कि श्री कृष्ण के स्वाद का स्वाद कैसा होता है—

तन्मातरो वेणुरवत्वरोत्थिता उत्थाप्य दोर्भिः परिरभ्य निर्भरम्
स्नेहस्नुतस्तन्यपयः सुधानिभं मत्वा परं ब्रह्म सुतानपाययत् ॥
गावस्ततो गोष्ठमुपेत्य सत्वरं हुंकारघोषैः परिहूतसंगतान् ।
स्वकान् स्वकान् वत्सतरानपाययत् मुहुर्लिहन्त्यः स्रवदोधसं पयः ॥

गोपियों की उस आकुलता की बात करें कि श्रीकृष्ण मानते नहीं, गो-चारण के लिए निकल गये हैं, उनके नलिन-सुन्दर पद जाने किन कंकरीली-पथरीली राहों पर पड़ रहे होंगे, कितने काँटे-कुश चुभते होंगे, उनके चरण इतने कोमल कि हमें अपने अंगों पर रखते डर लगता है कहीं ये कठोर अंग चुभ न जायें पर हाय रे, निर्मोही हमको तो सताते ही हैं, अपने को भी सताते हैं, ऐसे चंचल, न उनसे खुद घर रहा जाता है न किसी को घर में चैन से रहने देते हैं—कितना मन कदरा जाता है, उनका इस तरह घूमना सोच-सोचकर—

चलसि यद् व्रजे चारयन् पशून्
नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम् ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शिलतृणांकुरैः सीदतीति नः
कलिलतां मनः कृष्ण गच्छति ॥

मन के बारे में कहा कलिल बन जाता है, कलिल का एक अर्थ है, पंक, मानो उत्सुक कि चरण-कमल का स्थान तो इस रागाविल पंकिल चित्त में है, दूसरा अर्थ है गर्भ की आदिम अवस्था, मानो मन में एक नयी सृष्टि जन्म लेने लगती है। व्रज से चलते समय गोपियों के उस विलाप के साथ बिलखें कि जिनकी स्निग्ध मुसकान ने मन्त्र फूँक दिया था और लीलामयी दृष्टि ने तन मन प्राण हर लिया था, जब उन्होंने रास रचा था और तब महारास की रात क्षण हो गयी थी, वे जा रहे हैं, यह दुरन्त अन्धकार कैसे झेला जायेगा, ऐसी शारदीया उजास के बाद विशेष रूप से—

यस्यानुरागललितस्मितवल्गुमन्त्रलीलावलोकपरिरम्भणरासगोष्ठ्-याम्। नीताः स्म नः क्षणमिव क्षणदा विना तं गोप्यः कथं न्वतितरेम तमोदुरन्तम् ॥

अथवा उस पराक्रम का स्मरण करें जब उन्होंने अकेले असुरों और मदान्ध द्वेषियों का निकन्दन किया, सात-सात दुर्दान्त बैल एक साथ नाथ दिये, आँधी के ऊपर सवारी की, कालिय के फणों पर नाचे, कानी उँगली पर गोवर्धन थामा, दावानल पिया, मल्लों को पछाड़ा, सब हँसते-हँसते। उस मित्र वत्सलता का स्मरण करें कि दीनहीन सुदामा के धूलि धूसर चरण आँसुओं से पखारे, मित्र से भर अंक भेंट कर अत्यन्त आनन्दित हुए, उनके ईश्वरत्व का आवरण हट गया, वे निर्वृत हो गये, उनकी आँखें उस आँधी-पानी वाली रात की स्मृति से भर आयीं जब वे श्रीदामा के साथ गुरु के आश्रम के लिए वन में लकड़ी तोड़ने गये थे, उन्होंने कातर होकर कहा, कहो मित्र, वह रात याद है, एक-दूसरे का हाथ थाम्हे, एक-दूसरे को अवलम्ब देते हुए हम भटकते रहे और पानी मूसलाधार बरस रहा था, कुछ सूझ नहीं रहा था, कैसी थी रात और कैसा था उसे नकारने वाला मैत्री का हाथ—

वयं भृशं तत्र महानिलाम्बभिर्निहन्यमाना मुहरम्बुसम्प्लवे।
दिशोविदन्तोथ परस्परं वने गृहीतहस्ता यद् बिभ्रिमातुराः ॥

या नित्य साथ रखने वाली महिषियों की उस विरह-विह्वलता की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बात करें जब उन्हें क्षणमात्र के कल्पित वियोग में भी समस्त प्रकृति उनकी सहदुःखभागिनी लगती थी, कुररी उनके लिए रात-रात टेरती थी, समुद्र की चीत्कार बन्द नहीं होती थी, मेघ के आँसू नहीं थमते थे, क्या हो जाता है उसे जिसे श्रीकृष्ण की विहँसती दीठ लग जाती है—

कुरारि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे
स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोधः ।
वयमिव सखि कच्चिद् गाढनिर्भिन्नचेता
नलिननयनहासोदारलीलेक्षितेन ॥

चित्त को यह चीर कर रख देती है दृष्टि । ऐसे विचित्त करने वाले श्रीकृष्ण का अन्तिम रूप मुझे सबसे अधिक वेधक लगता है । 'बहुतायत' में रहने वाले कृष्ण ऐसे अकेले, ऐसे निस्सहाय, क्या इसलिए कि चलते-चलते नरदेह तजते-तजते नरदेह की समूची की समूची असहायता और निरुपायता झेल लेना चाहते हों, नरदेह की पूरी पीड़ा आत्मसात् कर लेना चाहते हैं, बिना पीर समझे एक-एक नर की पीर हरेंगे कैसे । समझ में नहीं आता निठुर हैं या कोमल, एक ओर कहीं कोई ममता नहीं, मोह-छोह नहीं, और दूसरी ओर ऐसा बाँधते हैं मोह-छोह में, ऐसी चित्त-विनाशिनी लीला के साथ कौन हो, कृष्ण का अनुगमन नहीं किया जा सकता, पर विवशता ऐसी है कि कृष्ण के खिचाव में जाने क्या है, जहाँ है वहाँ रहा नहीं जाता, बस व्रजन का भाव बरबस उठता है, चलो, रुकना नहीं है, व्रजविहारी के लिए, व्रजी बनो, व्रज और व्रज के तरुपल्लव बनो, व्रज न बन सको व्रज की रेत के कण बनो, कण बनकर भी ठहरो नहीं, उनकी लीलासखियों के चरणों में पड़कर हवा के कन्धे पर सवार हो जाओ, उनके विरह में सँवरायी जमुना के जल में उतर जाओ । ऐसी पुकार लगाता है भागवत ।

भागवत की व्याख्या करने के लिए रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी और मधुसूदन सरस्वती की तपस्या चाहिए, पूज्य स्वामी करपात्री जी का अगाध ज्ञान चाहिए, महाभोगों में लीन पण्डित गोपीनाथ कविराज की साधना चाहिए, यहाँ कुछ नहीं तो भी भागवत भिगो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देता है मेरे जैसे विषयों के जंगल में प्यास बुझाने अन्धे कूप के पास गये और उसमें गिरे हुए असहाय व्यक्ति को, मुझे लगता है भागवत अन्धकूप-पतितों के लिए ही लिखा गया। इस साहित्य की वाँहें इतनी लम्बी हैं कि हमारे जैसे साधारण भक्त लोगों तक भी पहुँचती हैं। क्या इससे भी बड़ी कोई साहित्य की कसौटी होगी, क्या इससे भी अधिक स्वादु कोई रस होगा ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

३

श्रीमद्भागवत का मानवीय तत्त्व

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरो स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंगंगतः साग्रजः॥

भागवत का अर्थ है भगवान् को लक्ष्य करके रचा ग्रन्थ। इसलिए यह शंका सहज उठ सकती है कि तब मनुष्य से इसका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। परन्तु भगवान् की भगवत्ता ऐश्वर्यवत्ता तो मानव-देह में ही पूर्ण होती है, यही भागवत का प्रतिपाद्य है, तब स्पष्ट हो जाता है कि मानव-देह कितनी महत्त्वपूर्ण है। यह अवश्य है कि यह देह साधन है, साध्य नहीं, समस्त प्राणियों के साथ तादात्म्य का अनुभव करने के लिए मनुष्य सबसे अधिक समर्थ है, क्योंकि उसमें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चैतन्य का उन्मीलन सभी प्राणियों से अधिक है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि दूसरे प्राणी नितान्त अधम हैं। जब शुकदेव ने परीक्षित् को ब्रह्मा के द्वारा वत्सगोपहरण की कथा सुनायी; ब्रह्मा ने परीक्षा लेनी चाही, बछड़ों और गोपबालों को छिपा दिया, देखें श्रीकृष्ण इन्हें ढूँढ़ पाते हैं या नहीं। श्रीकृष्ण ने विधाता का अभिमान तोड़ने के लिए उतने ही बछड़ों और गोपबालों के रूप में अपने को प्रकट कर दिया, सृष्टि नहीं की, विशिष्ट होकर भी स्वयं परिणत हो गये असंख्य सामान्यों में। ऐसे कि उन बछड़ों की और गोपबालों की माताओं को कुछ भी अन्तर नहीं जान पड़ा, या यों कहें उन्हें अपने बछड़े, अपने बच्चे और अधिक अपने लगे (क्योंकि वे आत्मरूप हो गये थे उनकी स्नेहातुरता और बढ़ गयी तब परीक्षित् ने प्रश्न किया—श्रीकृष्ण तो पराये थे, दूसरे के गर्भ से पैदा नहीं हुए थे, गोपमाताएँ और गउएँ उनको बच्चे या बछड़े के रूप में देखकर उनके लिए क्यों इतनी उमग उठीं। शुकदेव ने उत्तर दिया कि आत्मा सबको प्रिय है, पुत्र-वित्त सब आत्मा को पाकर ही प्रिय है, जिन्हें देह में ही आत्मबुद्धि होती है, देह के जीर्ण होने पर उनके भीतर जीविताशा अधिक बलवान् बनी रहती है, इससे यह अर्थ निकलता है कि सभी देह-धारियों को आत्मा प्रिय है, यह चराचर जगत् उसी के लिए है, और श्रीकृष्ण तो सर्वात्मभाव से सबको देखने वालों की आत्मा हैं, वे जगत् के हित के लिए एक पिंड में अवस्थित हैं।

सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः।
इतरेपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि॥
देहोपि ममताभाक् चेत्तर्ह्यसौ नात्मवत् प्रियः।
तज्जीर्यति देहेस्मिन् जीविताशा बलीयसी॥
तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम्।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम्॥
कृष्णमेवमवेहि स्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोप्यत्र देहीवाभाति मायया॥

भागवतकार मानव का महत्त्व इसमें मानते हैं कि वह दूसरे प्राणियों के भीतर चैतन्य की सम्भावना को समझ सकता है और समझ लेता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

है तो वह वस्तु रूप में अपने परिवेश को नहीं देखता, आत्मरूप में देखता है।

स्वयं श्रीकृष्ण ने प्रकृति को अपने बड़े भाई अनन्तरूप बलराम की चर्चा करते हुए देखा और कहा कि ये झुक झुक-फल-फूल बरसा रहे हैं, ये अपना अन्धकार दूर करने के लिए वृक्षयोनि में जैसे पैदा हुए हैं। ये और कुछ नहीं वस्तुतः मुनिगण हैं, आपका यशोगान कर रहे हैं, हरिणियाँ आपको स्निग्ध दृष्टि से देख रही हैं, मोर नाच रहे हैं, कोयल कुहक रही है, नदी-पर्वत-धरती सब आपके चरणों के स्पर्श से, दृष्टिपात से कृतार्थ हो रहे हैं। अभिप्राय यही है कि वृन्दावन का परिवेश अनन्त रूप बलराम और अनन्त के सहचर अखण्ड चैतन्य प्रवाह श्रीकृष्ण का अपने को अंश अनुभव कर रहा है।

अहो अमी देववरामरार्चितं पादाम्बुजं ते सुमनः फलार्पणम्।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मन स्तमोपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम्॥
एतेलिनस्तव यशोखिललोकतीर्थं गायन्त आदिपुरुषानुपदं भजन्ते।
प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या गूढं वनेपि न जहत्यनघात्मदैवम्॥
नृत्यन्त्मी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्यः कुर्वन्ति गोप्य इव ते प्रियमी-
क्षणेन। सूक्तैश्च कोकिलगणा गृहमागताय धन्या वनौकस इयान् हि
सतां निसर्गः॥

भागवत की दृष्टि में सृष्टिमात्र में एक अखण्ड जीवन-प्रवाह है, वह नरदेह से अपेक्षा रखता है कि वह प्रवाह की निरन्तरता को प्रकट करने वाली शक्ति का वाहक साधन बने, श्रीकृष्ण और बलराम वस्तुतः जीवन की प्राणवत्ता और निरन्तरता के साकार विग्रह हैं, उन्हें नरदेह में पाकर सबके प्राण उल्लसित होते हैं, सबको अपनी अनन्तता का अनुभव होता है, मनुष्य को भी, अन्य चर-अचर संसार के प्राणियों को भी। भागवत यह मानकर चलता है कि इस विश्व के केन्द्र में जीवन का निरन्तर और अखण्ड प्रवाह है, केवल मनुष्य नहीं, मनुष्य के जीवन की सार्थकता है इस अखण्डता और निरन्तरता का साक्षात्कार कराने में, उसका शरीर पराश्रय है दूसरों का आश्रय है, यों कहें या एक श्रेष्ठतर भाव का आश्रय है, शौनक मुनियों ने सूत से प्रश्न किया था कि परीक्षित् जैसे राजा ने मृत्यु के सामने अपने को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समर्पित क्यों किया, गंगा किनारे उपवास करके बैठ गये, उन्हें अधिकार कहाँ था शरीर तजने का, शरीर तो उनका था नहीं, वे भगवत्परायण लोक के कल्याण के लिए, अभ्युदय के लिए जीते हैं, अपने लिए नहीं। क्यों उन्हें इस शरीर से वैराग्य हुआ ?

शिवाय लोकस्य भवाय भूतये य उत्तमश्लोकपरायणा जनाः।
जीवन्ति नात्मार्थमसौ पराश्रयं मुमोच निर्विद्य कुतः कलेश्वरम्॥

भागवत इसी प्रश्न का एक विस्तृत उत्तर है, शरीर निर्वेद नहीं शरीर के धर्म का स्मरण ही भगवद्भक्ति है, परीक्षित् ने लोकधर्म का पालन करते हुए ही जरा-सी चूक की, एक बच्चे ने उन्हें शाप दिया, सात दिनों बाद सर्प तुम्हें डँस लेगा। परीक्षित् ने उस शाप को सिर-माथे लिया और मन में सोचने लगे कि मुझसे जो प्रमाद हुआ, उसका परिमार्जन कैसे हो, सम्भवतः धर्म के मूल स्वभाव, धर्म की प्रकृति को मैं भूल गया। इसी से वे गंगा के किनारे सब कुछ तजकर चले गये, लोक का त्याग किया तो लोक का होकर ही त्याग किया।

त्यजेत्स्वार्थं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

धर्म के भीतर से गुजर कर धर्म की अन्तरात्मा का परिचय प्राप्त करने के लिए मनुष्य को धर्म का अतिक्रमण करना पड़ता है। वस्तुतः लोक-धर्म एक सोपान है, गन्तव्य नहीं है, गन्तव्य है उसकी सार्थकता की जाँच करके सबसे चरम जीवन-मूल्य का अन्वेषण।

भागवत इसी से मोक्ष को तुच्छ समझता है, अन्वेषण के सतत और सजग प्रयत्न को ही सार्थक समझता है, स्वर्ग आदि तो केवल प्रलोभन हैं, राह में अटकाने के लिए, वहाँ अटकना नहीं है, सिद्धियाँ भी विघ्न हैं—

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिमत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समंजस त्वा विरहय्य कांक्षे॥

देह की सार्थकता **समंजस** की प्राप्ति है, सामंजस्य का दर्शन है, ओत-प्रोत भाव का साक्षात्कार है, अथवा उस भाव के प्रवाह में अपने को तृण की तरह डाल देने का संकल्प है। भागवतकार ने तमाम वर्षों को गिनाते हुए भारतवर्ष की महिमा का वर्णन किया और यहाँ ऋषि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के रूप में नारद की, मनु के रूप में सावर्णि की और अधिष्ठाता देव के रूप में **नरनारायण** की सांख्ययोग के मार्ग से सर्वभूतात्मा अनात्मा अनिर्वचनीय अनिकेत भगवान् वासुदेव की भक्ति को जीवन-श्रद्धा के रूप में प्रतिष्ठित किया।

इसका एक गहरा तात्पर्य है कि यहाँ जो पैदा होते हैं, वे संसार से मुक्ति नहीं चाहते, वे गमनागमन से मुक्ति नहीं चाहते, वे देवलोक का भोग नहीं चाहते, वे बार-बार जन्म लेकर भगवद्भाव की अधिकारिता प्राप्त करना चाहते हैं, वे नारायण और नर का साहचर्य अनुभव करना चाहते हैं, अपने बाजू में नारायण को तप करते देखना चाहते हैं—

प्राप्ता नृजातिं त्विह ये च जन्तवो
ज्ञानक्रियाद्रव्यकलापसंभृताम् ।
न वे यतेरन्नपुनर्भवाय ते
भूयो वनौका इव यान्ति बन्धनम् ॥

स्वेच्छा से बन्धन का वरण करने का यह विधान अद्भुत है। यह बन्धन भावबन्धन है, जिसे अखिल संसार का और उससे जन्य पीड़ा का अनुभव अपने भीतर हो और उससे दूर करने का निरन्तर उपाय करते रहने का क्रम बना रहे, तभी नारायण का साहचर्य मिलता है।

नर नारायण के साथ-साथ तप करने का और दूसरा अर्थ क्या हो सकता है। आचार्यों ने भक्ति को जो पंचम और चरम पुरुषार्थ कहा, उसकी पीठिका भागवत में तैयार हुई, मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन में यही विचारपीठिका समस्त प्राणियों में ऐक्य की स्थापना में सहायक हुई। कोई भी उपेक्षणीय नहीं है, उलटे सबसे उपेक्षणीय ही भगवद्भाव की दृष्टि से सबसे अपेक्षणीय है, सबसे पहले भगवान् उसी की ओर दौड़ते हैं, जो असहाय है, जो सबसे विपन्न है, जिसकी ओर किसी की दृष्टि नहीं जाती, जो पुकार लगाता है, मेरे और कोई नहीं है, मैं सन्त्रस्त हूँ। भगवान् वहीं दौड़े चले आते हैं, इससे भगवत्परायण व्यक्ति के ध्यान का केन्द्र भी भगवान् की ऐसी उपस्थिति हो जाती है। वहीं चलना चाहिए जहाँ आर्त्त पुकार है, भगवान् वहीं उपस्थित होंगे। उस आर्त्तता को दूर करने में जो उद्यम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होगा वह भगवान् का उद्यम होगा, अपने भीतर के अनुतप्त नारायण का उद्यम होगा, यह उद्यम ही उनका वास्तविक अर्चन होगा।

जो लोग समझते हैं कि भक्ति कर्म का प्रतिषेध है या ज्ञान का प्रतिषेध है, वे भागवत का भाव नहीं समझते, भगवान् का होने का दायित्व नहीं समझते। क्षुद्र अभिमान के विसर्जन के बाद जो कर्म होता है, जो ज्ञान की संसिद्धि होती है, वह न तो बाँधने वाली होती है, न आत्ममोह देने वाली होती है। भक्ति में कर्म और ज्ञान का सही विनियोग होता है। भक्ति के द्वारा गुणमय देह का भावमय देह में रूपान्तरण होता है, जीव के कोश का ध्वंस होता है, न देह का ध्वंस होता है, न जीव का, न जगत् का। जैसे दूध का दही में परिवर्तन होता है, दूध के विकार का शमन होता है, दूध में नया रस आता है, उसी प्रकार एक विशेष प्रकार के ताप के अनुभव से भगवान् को प्राप्त करने की इच्छा के समुदय से और मृदु ताप में बने रहने से मनुष्य का रूपांतरण हो जाता है, वह **स्व** न रहकर **पर** बन जाता है, तदीय बन जाता है, परकीय बन जाता है और तभी बिना अधिकार के भाव से वह उनसे पाने की अपेक्षा किये बिना भी उनमें ही बस जाता है। जारबुद्धि को जो लोग अनैतिक अर्थ में लेते हैं, वे इसका मर्म नहीं समझते। रास के समय वंशी बजी, सब चित्तवत्तियाँ उसी ओर बह चलीं, कुछ रोक ली गयीं, पर वे भावद्वार से वहाँ पहुँच गयीं, इसका वर्णन करते हुए भागवतकार ने कहा—

दुस्सहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमंगलाः॥
तमेव परमात्मानं जारबुध्यापि संगताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥

जिस भाव को व्यक्ति प्रियतम मान लें समस्त प्रिय वस्तुओं और व्यक्तियों से अधिक प्रिय और उससे अधिक प्रिय उसके लिए जब कुछ न रह जाय, तब उसके सामने न होने का अनुभव दुस्सह है और उसमें जो ताप होता है, उसकी आँच बड़ी तेज होती है, ऐसी होती है जो वस्तु उसमें पड़े वह गल जाती है, उसका सारा विकार नष्ट हो जाता है, उसकी अशुचिता नहीं रह जाती है, वह शुद्ध स्वभाव को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्राप्त करता है, ऐसे में पाप कहाँ रहेगा। ऐसे स्वभाव से ऐसे शुद्ध चित्त से जब भावेश्वर का ध्यान होता है वे ऐसे मिलते हैं कि छूटेंगे नहीं ध्यान के पाश से, तब कोई भी सीमा नहीं रह जाती, कोई दायरा नहीं रह जाता, सुखों का सुख मिल जाता है, अद्भुत निर्वृति मिलती है, उसमें अनन्त-अनन्त जन्मों का सुख एक क्षण में ही अनुभूत होता है, पुण्य का सब योग चुक जाता है। पाप-पुण्य का संसर्ग छूटता है तो परम आत्मा, आत्मा के पररूप से ऐसा सम्बन्ध जुड़ता है कि लगता है वे अपने नहीं हैं, पर हम उनके हैं, उनके लिए हम पराये हैं, ऐसे पराये हुए जनों के वे आत्मा हैं जिनके ऊपर हमारा कोई अधिकार नहीं है, हमारा कोई दावा नहीं है कि वे हमारे हैं, बस हम उनके हैं, स्वीय न होकर परकीय हैं वे मानें न मानें, हमारा अपना होने का भाव ही नष्ट हो गया, और तब तो विवशता उनकी होती है कि वे जुड़ जायें।

गोपियाँ मर्यादा का अतिक्रमण करती हुई लगती हैं और भागवतकार इस सम्बन्ध में साधारण नैतिकता के प्रयोजन से उठायी हुई शंकाओं का बार-बार निवारण करते हैं। वे श्रीकृष्ण की शिशु लीला, पौगण्ड लीला और किशोर लीला में तारतम्य देखते हैं, मथुरा से गोकुल में श्रीकृष्ण के स्थानान्तरण में विशेष उद्देश्य देखते हैं, वे इन्द्रिय रूपी गउओं के कुल में जाते हैं, स्वयं विषयी होते हुए भी इन्द्रियों के विषय होकर जाते हैं। इन्द्रियों के सहज स्वभाव का संस्कार करने लाते हैं कि वे भर आँख देख सकें सम्पूर्ण विश्व को, क्योंकि सहज जीवन बिताने वाले ही भर आँख देख सकते हैं, वे भर आँख सम्पूर्ण को देखें और सम्पूर्ण विषय दृष्टि हो जाय, जो सुन सकते हैं वे सुनें और पूर्णतः श्रुतिमय हो जायें, जो छू सकते हैं पूरे मन से, वे छुएँ और आप्लुत हो जायें सम्पूर्णता के स्पर्श से, जो रस ले सकते हैं जीवन का, वे रस लें और वे रस बन जायें, जो अपने साँसों में सम्पूर्णता की सुरभि भर सकते हैं, भरें और सम्पूर्ण उनके नथुनों में भर जाय। रूप आँख हो जाय, नाद ही श्रवण हो जाय, स्पर्श रोम हो जाय, रस रसना हो जाय, गन्ध घ्राण हो जाय, इसी के लिए श्रीकृष्ण का गोकुल विहार होता है, गोकुल से भी निकलकर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्रजविहार होता है, इन्द्रियानुभूति से निकलकर चित्तानुभूति में विहार होता है। साँस जैसे खींची जाती है, वैसा ही कुछ व्यापार श्रीकृष्ण वृन्दावन में करते हैं, अपने प्राणों की फूँक से प्राण खींचते हैं, भरते हैं, छोड़ देते हैं, उनके प्राणों से मिलकर प्राण सुरभित हो जाते हैं। उनके निःश्वास यदि ज्ञानमयी भावमयी श्रुतियाँ हैं तो गोप-गोपिकाएँ भी हैं। भावरूप निःश्वास कर्म का विरोध नहीं सामंजस्य है, जिसके कारण श्रीकृष्ण के विरह में गोपी का नित्य का दैनन्दिन कार्यक्रम रुकता नहीं और सजगता से श्रीकृष्ण के श्वास-श्वास के साथ स्मरण की सजगता से सम्पन्न होता रहता है। श्रीकृष्ण लीला का गायन भी चलता रहता है, श्रीकृष्ण का अनुभावन भी चलता रहता है, तीनों के सामंजस्य से आसपास का शून्य आकाश पुलक से भर जाता है, दिशाओं का अमंगल धुल जाता है, दिशायें निर्मल हो जाती हैं, सबके लिए मंगलमय बन जाती हैं।

एवं निशा सा ब्रुवतोर्व्यतीता
नन्दस्य कृष्णानुचरस्य राजन्।
गोप्यः समुत्थाय निरूप्य दीपान्
वास्तून् समभ्यर्च्य दधीन्यमन्थन्॥
उद्गायतीनामरविन्दलोचनं
व्रजांगनानां दिवमस्पृशद् ध्वनिः।
दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रितो
निरस्यते येन दिशाममंगलम्॥

आकर्षण की तीव्रता क्रमशः बढ़ती जाती है, साहचर्य क्रमशः सामरस्य के रूप में परिणत होता जाता है। श्रीकृष्ण स्वयं हारते हैं, साधारण और सहज भाव वाले अपने लोगों को जिताते हैं, वे कन्धे पर अपने प्रियजनों को बिठाते हैं, अभिन्न सखा हों, अभिन्न सखी हों, और उतार देते हैं तो सखा-सखी का सखित्व उतर जाता है, वे आत्म बन जाते हैं, सम्पूर्ण के कन्धे पर जो चढ़ेगा, वह असम्पूर्ण बनकर कैसे उतरेगा, उसके चित्त के ऊपर तो सम्पूर्ण वैसे ही समारूढ हो जायेगा। पर इतना स्मरण रखना चाहिए कि सहज चित्त ही चढ़ सकता है और चढ़ा सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस सहज का अर्थ समझना बहुत कठिन है, क्योंकि एक बार असहज हो जाए, अपने अनावरण शुद्धरूप पर कोई परिधान डाल लें तो फिर सहज नहीं रहा जा सकता, सहजता की ओर लौटा नहीं जा सकता। गोपियाँ श्रीकृष्ण को परब्रह्म के रूप में पहचानती हुई भी सहज हैं, वे विशाल के भाव से आतंकित नहीं हैं, वे लीलामय की लीला को स्वाभाविक मानती हैं, परब्रह्म छिपें, चुरायें इन्द्रियों का रस तो पकड़े जायें, बँधें, कौन ऐसे विशेष हैं, वे निर्विशेष हैं और इसी से ब्रह्म को निर्विशेष रूप में देख सकती हैं। वे कहती हैं—

न खलु गोपिकानन्दनो भवान् अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥

हम जानती हैं तुम गोपिकानन्दन नहीं हो, तुम इन्द्रियों को चराने वाली बुद्धि से (गोपिका=गौ को संचालित करने वाली) नहीं उत्पन्न हुए हो, उस बुद्धि ने तुम्हें पराया जानकर भी गोद लिया है, तुम अनात्मीय हो, तुम्हें पता चले कि अनात्मीय को भी कितनी आत्मीयता दी जा सकती है। तुम समझते हो कि हम जानतीं नहीं कि तुम स्रष्टा के अनुरोध पर विश्व की रक्षा करने, भूभार उतारने यहाँ आये हो, हम जानतीं हैं तुम अन्तरात्मा के साक्षी हो, तुम भीतर-बाहर सब देख सकते हो, तुमने यदुवंश में कुछ उद्देश्य लेकर जन्म लिया है, पर तुम हमसे अलग नहीं हो सकते, हमने अपने प्राण तुम्हारे पास न्यास के रूप में रखे हैं, तुम उस दायित्व से पलायन नहीं कर सकते। तुम्हें हमारे पास आना पड़ेगा, हमारे साथ नाचना पड़ेगा, व्यष्टि बनकर नाचना पड़ेगा, नहीं तो समझोगे कैसे व्यक्ति के भीतर समष्टि का ज्वार कैसे उमड़ता है, नहीं समझोगे तो समष्टि चैतन्य की एकरसता में ही रह जाओगे, तुम्हें धारवाही समरसता की प्रतीति नहीं होगी, तुम वंचित हो जाओगे। तुम्हें पूर्ण से पूर्णतर होना है तो तुम अपूर्ण के हाथ पसर कर देखो, अपूर्ण के घर अपूर्ण के श्रम-कौशल का सार-भूत पदार्थ चुराकर चखो और देखो कितना स्वाद होता है अपूर्णता में, न मन भरे तो लूटकर देखो और तुम्हें स्वाद मिल गया है तो अपूर्ण के साथ मिलकर नाचो, नाचकर देखो, रस का कैसा विस्तार होता है और रस कैसे रास होता है और रास कैसे महारास।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गोपियाँ मर्यादा का अतिक्रमण करती हुई लगती हैं, पर बात ऐसी है नहीं, वे निर्मर्याद असीम से बिना बहुत सारी क्रमिक प्रक्रियाओं से गुजरे जुड़ जाती हैं। वे सीधे ब्रह्मसम्बन्ध स्थापित करती हैं, क्योंकि उनमें कोई छल या दुराव नहीं है, एक सौन्दर्य की सत्ता का पारावार देखा, उन्हें लगा कि जीवन तो वहाँ उछल रहा है, कूद पड़ो। उनके मन में तनिक भी संशय नहीं हुआ, वे कूद पड़ीं रस-सिन्धु में। और तब उनका स्वभाव रहा ही नहीं, विद्यापति ने जैसा कहा—

ओ निज भाव सुभाव बिसारल अपने गुन लुबधाई।

गोपी ने अपना स्वभाव बिसरा दिया, वे श्रीकृष्ण की लीला करते-करते ऐसी तन्मय हो गयीं, अपने को ही बार-बार निरखकर अपने ही में रस पाने लगीं। वे एक क्षण में आत्माराम हो गयीं, आत्माराम से भी एक सोपान ऊपर चढ़ गयीं, जहाँ से जिस आत्मा में रमण हुआ, वह आत्मरूप श्रीकृष्ण ही कुछ कृतज्ञ भाव से झुके हुए दिखे, श्रीकृष्ण ही कृतार्थ दिखे। श्रीकृष्ण ने रास के पूर्व कहा भी—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहश्रृंखलाः संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥

तुम जो किसी प्रकार के अवद्य की, किसी प्रकार के लोकभाव की चिन्ता न करके, एक झटके में देह-गेह की जंजीर तोड़कर मुझसे जुड़ी हो, इस सर्वत्यागी प्यार का ऋण देवताओं की आयु पाऊँ तो भी चुका नहीं सकता, मैं इस प्यार में तुमसे पार नहीं पा सकता, व्यक्ति की ऐसी ऐकान्तिक वैयक्तिकता मुझसे सँभाली नहीं जा सकती।

इस अर्थ में भी गोपियों को निर्मर्याद कह सकते हैं कि उन्होंने एक बड़ी मर्यादा को बड़े सच्चे मन से पहचानकर छोटी मर्यादाओं की चिन्ता छोड़ दी है। वे समाजबाह्य नहीं हैं, न गृहकार्य से विरत, वे श्रीकृष्ण के पीछे-पीछे उनके कार्य में विघ्न डालने मथुरा नहीं जातीं, न वे श्रीकृष्ण से कोई अपेक्षा रखती हैं। उनको अपने दैनन्दिन कर्म में पाती ही रहती हैं, सहज भाव से वे अपने आप श्रीकृष्ण लीला के अनुभावन में, श्रीकृष्ण की वंशी की अनुगूँज में श्रीकृष्णभाव से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भरती रहती हैं। बीच-बीच में भरी होकर भी विरह की भावना इसलिए करती हैं, अपने को विलाप में उड़ेलकर इसलिए खाली होती रहती हैं कि भरने का नया चाव जगे। श्रीकृष्णभाव का अर्थ यही है कि प्रत्येक कर्म श्रीकृष्ण के लिए अर्पित हो, प्रत्येक सम्बन्ध श्रीकृष्ण के साथ जुड़ाव हो और प्रत्येक पीड़ा श्रीकृष्ण के अभाव की प्रतीति हो। इसी से प्राण छोड़ते समय भीष्मपितामह के मन में ललक हुई कि काश हम भी श्रीकृष्ण के साथ वैसा जुड़ाव पाते कि समस्त ऐन्द्रिय-व्यापार में समस्त मानस-व्यापार में, समस्त बौद्धिक व्यापार में श्रीकृष्ण को ही लक्ष्य देखते, उन्हें देखते-देखते उनके हो जाते—

ललितगतिविलासबल्गुहासप्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः ।
कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः ॥

उनकी गोपियों जैसी उन्मदान्धता पाते, उनको अपने भीतर पाते रहना एक नशा बन जाता, श्रीकृष्ण व्यसन बन जाते, उस व्यसन के बिना जिया न जाता, प्रकाश के लिए इतना मोह काश मिलता कि मोह भी प्रकाश हो जाता।

हर कोई जीवात्मा तो अपना तमस्, अपनी दुर्बलता, अपना अज्ञान छिपाना चाहती है, विशेष रूप से उसके सामने जिसे प्यार करती है, हर कोई तो अच्छे-से-अच्छे प्रकार से सजना चाहती है, पर गोपी सोचती है जो हूँ जैसी हूँ, उनकी हूँ, उनके सामने सब निरावृत हैं, उनकी उपस्थिति कहाँ नहीं है, सबसे अन्धकारमय कोने में वे पहुँच जाते हैं और काले अन्धकार को उज्ज्वलनीलमणि बना देते हैं, उनकी उपस्थिति के सैलाब से जब बचा ही नहीं जा सकता, तो क्यों धक्के खायें, क्यों अचकचाकर भहरायें, सहजभाव से उसमें तैरने के लिए क्यों न कूद पड़ें, जो होना हो हो और वे अनन्तरस प्रवाह में निर्भय होकर कूद पड़ी, प्रवाह भी धन्य हो गया।

जब हम इस विसर्जनमय मानुषभाव की बात सोचते हैं तो लगता है भागवत ने मानवीय सार्थकता का एक चरम शिखर पा लिया है, एक ही नहीं, शिखरों की एक आरोही पंक्ति पा ली है, केवलीकृत ज्ञान का एक साकार रूपजाल रच दिया है। गोपीकृष्ण हुए बिना श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुष नहीं हो सकते थे, गीता के उपदेष्टा ने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जीवन के प्रत्येक क्षण को यज्ञ के रूप में, आहुति के रूप में, सृष्टि के पुनरावर्त्तन के रूप में अनुभव बचपन में किशोरावस्था में किया, भूख, प्यार, अकेलापन ये सभी मानव आकांक्षाएँ ही जीवन-यज्ञ की दीक्षा हैं, बिना समस्त विश्व की भूख, प्यार और अकेले पड़ने की व्यथा को आत्मसात् किये वे कर्मयोग का उपदेश करते, तो वह कर्म भीतरी आवश्यकता की पूर्ति न होकर बेगार होता, ज्ञानयोग का उपदेश करते तो वह ज्ञान शुष्क होता और बुद्धि का व्यायाम मात्र होता, वह फूल की तरह हल्का न होता कि कानों में खोंस लिया जाय भक्ति-योग भी एक कटाव होता जीवन से, पलायन होता जीवन का स्वीकार न होता।

श्रीकृष्ण भारत के ही नहीं, विश्व के पूर्णतम भावपुरुष हैं तो इसलिए कि वे पूर्ण पुरुष हैं, सोलह कलाओं वाले पूर्णतर पुरुष हैं। श्रीराम पन्द्रह कलाओं वाले पुरुष हैं, उनमें अमृत कला का उदय इस रूप में नहीं हुआ जिस रूप में श्रीकृष्ण के विग्रह में हुआ। श्रीराम ने राज्यपालन में अपने को खपाया, लोकहित में, विपन्न के उद्धार में अपने को खपाया, पर लोक को भी तजकर लोकभाव को भी तजकर अपने भाव को भी तजकर निर्ममता का प्रतिमान स्थापित करके अपने को अत्यन्त सामान्य में रखना श्रीकृष्ण अवतार से ही सम्भव हुआ। श्रीराम ने गुरुजनों की सेवा का प्रतिमान उपस्थित किया, मित्रों का मान रखा, छोटों को वत्सलता दी, पर श्रीकृष्ण ने सबके आगे अपने को छोटा बनाया, जनमे भी तो कनिष्ठ होकर, पले भी तो गँवारों में, शिक्षा भी ली तो राजकुमार के रूप में नहीं, साधारण छात्र के रूप में, तपोवन का सब खटराग करते हुए, युधिष्ठिर के राजसूय में काम भी लिया तो समस्त अभ्यागत के पैर धोने का, युद्ध में मित्रता निभायी तो सारथि बनकर। जीवमात्र के प्रति अनुकम्पा नहीं सेवा की दीक्षा ली, गउओं की सेवा, घोड़ों की सेवा, वनस्पतियों की सेवा, नदी-पर्वत की सेवा, सब उन्होंने की, केवल मनुष्य या गौरवशाली मनुष्य की ही नहीं। उन्होंने अपहृत और तिरस्कृत नारी का उद्धार मात्र नहीं किया, उन्हें अपना बनाकर ऊँची मर्यादा दी, उन्होंने आदर्श नहीं स्थापित किया, मर्यादा नहीं स्थापित की, उन्होंने आदर्श तोड़े,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मर्यादायें तोड़ीं, जहाँ उन्हें लगा कि ये छोटी मर्यादायें सर्वभूतों में एक भाव पाने में बाधक हैं। उनके लिए कोई प्रिय नहीं, कोई प्रेष्य नहीं, कोई आत्मीय नहीं, केवल निष्किंचनता आत्मीय है, आत्मीयता का अनन्त विस्तार प्रिय है।

भागवत ने इसी से फक्कड़ परमहंस भाव को सबसे ऊँची मानवीय गरिमा दी, बचपन में मेरे दादा दो श्लोक बहुत सुनाते थे; उनका भाव यह था कि क्यों जाते हैं, कवि, मानव सर्जनशीलता के वाहक, धनियों के पास, धन के मद में अन्धों के पास, क्या चिथड़े नहीं यहाँ मिलते कि वस्त्र का काम नहीं चलता, क्या वृक्ष अनमाँगे फल-फूल की भिक्षा नहीं देते, पेट न भरता हो, क्या दूसरों का भरण करने वाली नदियाँ सूख गयीं कि प्यास की निवृत्ति न हो, क्या गुहाओं ने अपने द्वार बन्द कर लिये कि आश्रम की कमी है, सब कुछ हुआ क्या अजित ने (जिसे किसी ने कभी भी नहीं जीता, जो कभी भी हारे नहीं, टूटे नहीं, उन श्रीकृष्ण ने) किसी को दुःख में देखा, भयभीत देखा, अभाव देखा और उसका भरण नहीं किया, उसकी रक्षा नहीं की, क्यों बिकते हो उनके रहते धनियों के हाथ।

वह श्लोक इस प्रकार है—

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
नैवांघ्रिपाः परभृतः सरितोप्यशुष्यन्।
रुद्धा गुहाः किमजितोवति नोपसन्नान्
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्॥

दूसरे श्लोक का भाव यह है कि अपनी अंजलि हो तो अन्नपात्र की क्या आवश्यकता, भूमि के रहते दूसरी शय्या की क्या आवश्यकता, अपने बाँहें हैं तो तकिये की क्या जरूरत, दिशाएँ यदि वल्कल हैं तो रेशमी परिधान की क्या आवश्यकता। ऐसी सहज आत्मनिर्भरता भागवत में जगायी गयी है—

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासै-
र्बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम्।
सत्यंजलौ किं पुरुधान्नपात्र्या
दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इतने बड़े निरपेक्षभाव तक ही भागवत रुकता नहीं, वह निरपेक्षभाव से एक बड़ी अपेक्षा रखता है, परमहंस हुए तो क्या हुआ, अपनी प्यास बुझा ली, तृष्णा का क्षय कर लिया तो क्या हुआ, उस प्यास से प्यासे बनो और इसके लिए तुम उस प्यार के साकार विग्रह श्रीकृष्ण के लिए प्यास जगाओ। जब तक श्रीकृष्ण से नहीं जुड़ोगे तब तक तुम असंख्य किरात, हूण, पुलिन्द, चाण्डाल, कंक, खस, शक आदि इस देश में बाहरी और पराये मानें जाने वाले लोगों में, इस देश की सामाजिक-नैतिक व्यवस्था अस्वीकार करके पापी लगने वाले लोगों में तुम भगवत्ता की सम्भावना कहाँ से देख पाओगे और नहीं देख पाओगे तो यह परमहंस भाव व्यर्थ है, यह फक्कड़पन भी एक आडम्बर है, एक वेश है, परिधान है। भागवत मनुष्य को फक्कड़ के साथ-साथ भिखारी भी बनाता है, अपने लिए फक्कड़ और सबके लिए भिखारी, संसार से अलग करता है, ऊँचे बिठा देता है और संसार के तुच्छ से तुच्छ और हेय से हेय प्राणी के आगे छोटा कर देता है, मनुष्य के मानुष भाव की एक ऐसी दीक्षा देता है, जिसे लेकर प्राणी एक से भगवत्कृपा के अधिकारी हो जाते हैं, समभाव में ब्रह्म की व्यापकता के भाव में वे प्रवेश कर सकते हैं और तब सब आत्मीय हो जाते हैं—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकंका यवनाः खसादयः।
येन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

ऐसी प्रभविष्णुता, ऐसे सामर्थ्य की आराधना की जाय जो कुल-जाति, रंग-वर्ण के ऊपर उठकर मनुष्य को सर्वभूतात्मभाव से केवल सर्व-मनुष्यभाव से भर दे।

भागवत में निरन्तर दो बातें बार-बार दुहरायी गयी हैं, एक तो विराट् का एक चित्र जिसमें निखिल सृष्टि विराट् का ही अंग बतलाया गया है, यहाँ तक कि अधर्म भी भगवान् की पीठ कहा गया है, इस विराट् के चित्र के द्वारा विराट् अस्तित्व का ऐक्य इसलिए प्रतिपादित किया गया है कि ध्यान सम्पूर्ण की एकता से विचलित न हो, कभी यह न भूले कि विराट् की ओर अभिमुख न होना ही अधर्म है और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विराट् की ओर अभिमुख होना ही धर्म है, अपने छोटे से पिण्ड में उस विराट् के प्रतिबिम्ब को नहीं, उस विराट् के वामन रूप को बुलाओ और उसे अपने पिण्ड की भिक्षा दो। अपनी पीठ उससे नपवाओ। दूसरी बात जो बार-बार दुहरायी जाती है, वह है **वासुदेवः सर्वम्** सबकुछ वासुदेव है। इस आवृत्ति का भी यही प्रयोजन है कि विशिष्ट में नहीं साधारण में भगवान् हैं, वे विशिष्ट के भीतर की विशिष्टता का जो मोह है, उसे निरन्तर भंग करते रहते हैं, ब्रह्मा का मोह हो स्रष्टा होने का, मैं ही रचता हूँ, इन्द्र का मोह हो, ऐन्द्रिय ऊर्जा देने का, नारद का मोह हो भगवान् का अनन्य होने का, रुक्मिणी का मोह हो भगवान् की ज्येष्ठतम प्रिया होने का, अर्जुन का मोह हो, भगवान् का मित्र होने का, किसी का मोह ध्वंस किये बिना रहते नहीं, वे विशिष्ट से विशिष्ट को दयनीय बना देते हैं तो उस विशिष्ट के प्रति एक बहुत बड़े अनुग्रह के भाव से, उनकी कठोरता ही सबसे बड़ी कृपा है। जितनी ही बड़ी होती है सचाई, उसकी मार भी उतनी ही बड़ी होती है, श्रीकृष्ण हमारी चिन्तनधारा के सबसे बेधक सत्य हैं, सबकुछ बेध कर रख देते हैं, कोई चीर शरीर पर रहने नहीं देना चाहते, कोई भी आवरण नहीं सहते, किसी को कहीं छिपने नहीं देते, सब जगह पहुँच जाते हैं। जहाँ नहीं पहुँचते, वहाँ अपने प्राणों की फूंक से एक अन्तर्वेधी नाद पहुँचा देते हैं, कोई बच नहीं पाता।

कितना असम्भव और दारुण है यह सत्य, इसके बावजूद इसका इतना आकर्षण है या शायद इसीलिए इसका इतना आकर्षण है। भागवत ने इस सचाई की कोर और तीखी की है, जिससे आवेधन का खतरा और बढ़ जाय और मनुष्य हो तो उस खतरे को उठाने में ही अपनी मनुष्यता सार्थक माने, खतरा उठाये और अपनी सँजोयी हुई पूँजी अहंकार से हाथ धो बैठे, वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कुछ न रह जाय, स्त्री-पुरुष कुछ न रह जाय, भारतीय-अभारतीय कुछ न रह जाय, कुलीन-अकुलीन कुछ न रह जाय, अभिज्ञ-अनभिज्ञ कुछ न रह जाय, स्थावर-जंगम कोई भी कोटि-बद्ध इकाई न रह जाय। यही तो मनुष्यता की साधना थी। सधा या नहीं सधा या आधा सधा, इसका महत्त्व नहीं पर साधने की प्रक्रिया ही जीवन है, मनुष्य का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सौभाग्य कि उसने जीवन की ऊर्जा दूर तक पहुँचाने वाली शक्ति वहन करने की क्षमता पायी और मनुष्य का अभाग्य कि वह इस शक्ति को नहीं पहचानता। भारत का सौभाग्य कि मनुष्यदेह में यह ऊर्जा अपनी सम्पूर्णता के साथ उतरी और उसका अभाग्य कि यहीं इस सम्पूर्ण की पहचान खो गयी, इतना अविश्वास, इतनी संकीर्णता, इतना भेदभाव, इतनी क्षुद्रता और इतनी निरुद्देश्य नृशंसता, इतना सन्देह, इतना परस्पर अविश्वास, इतनी सुरक्षा के कारागार, सब यहाँ बस गये। देश एक आरोपित मानववाद की चकाचौंध में अपने सहज मानवीय दिव्यता को भूल गया, श्रीकृष्ण को पाकर इसने उनका भाव खो दिया और श्रीकृष्ण की ओर से वह तरह-तरह से सफाई देने लगा, एक नकली शुचिवायिता के आतंक में ग्रस्त होकर वह श्रीकृष्णचरित को खण्ड-खण्ड करके देखने लगा और तरह-तरह की ऐतिहासिक व्याख्या देने लगा, गोपाल कृष्ण तो बाद के हैं नर-नारायण कृष्ण कुछ पहले के हैं और मूलतः एक लोकवीर कृष्ण हैं, जो अपने जीवन के अन्तिम समय में युद्ध से विरत होकर योग-साधना में प्रवृत्त हो गये थे। मेरा या किसी भी सामान्य भारतीय का इस खण्ड-खण्ड कृष्ण से तादात्म्य नहीं हो पाता, मनुष्य और खण्ड-खण्ड होता जाता है। फिर एक हिन्दुस्तानी कृष्ण हो जाते हैं, एक अमेरिकी कृष्ण हो जाते हैं, एक थियासाफी कृष्ण हो जाते हैं। हम भूल गये हैं कि जो काम पूरी तरह निर्गुण भक्ति से और समता के उपदेश से नहीं सधा, आडम्बर पर आक्रमण से नहीं सधा, वही काम बिना किसी उपदेश के, सहज उन्मद हरि के प्रेम से पूर्वी और पूर्वोत्तर भारत में सध गया, मणिपुर चैतन्य के रंग में रँग गया, वहाँ नस्ल के भेद जाने कहाँ बिला-तिला गये, वह इसलिए कि श्रीकृष्णचन्द्र अपनी पूर्ण कलाओं के साथ चैतन्य महाप्रभु की भावदेह में अवतीर्ण हुए, उनका प्रत्येक संचरण श्रीकृष्णभाव का संचरण हो गया। श्री चैतन्य एक रसधार के रूप में उमड़े और हिन्दू-मुसलमान कोई भी उस धारा के किनारे खड़ा नहीं रह सका, सब मझधार में आ गये। आज लोग एक अधूरी और नकली शिक्षा के द्वारा उपजायी भारतीय अस्मिता के घेरे में ऐसे दुबक गये हैं कि उन्हें रसधार से डर लगता है, एक व्यापक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्मीयता से डर लगता है। जीवन ही नहीं रहेगा, जीने का प्रयोजन ही नहीं रहेगा तो मनुष्य होकर क्या होगा और तब मनुष्यों के समाज का संगठन बनाकर ही क्या होगा और मनुष्य होना है तो 'मनेर मानुष' मन के मनुष्य श्रीकृष्ण की लीला के साथ जुड़ना ही एकमात्र उपाय है। और सब उपाय चुक गये हैं, बस एक ही उपाय बचा है और एक ही उपेय, वह उपाय श्रीमद्भागवत है, वह उपेय हैं श्रीकृष्ण।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आम्नाय—ग्रन्थालय,
[illegible]
[illegible]

४

भक्ति, भक्तिकाव्य और भक्ति-रस

श्रीमद्भागवत का अध्ययन काव्य और काव्य के अनुचिन्तन के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न उठाता है, वे प्रश्न साहित्य-समीक्षा की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। पन्द्रहवीं से सत्रहवीं सदी ईस्वी तक अनेक आचार्यों ने इस पर मनन किया, उन्होंने स्वतन्त्र भक्ति-रस की स्थापना की। तुलसीदास जैसे कवि ने भी अभिनवगुप्त के रससिद्धान्त में निहित कोटियों के अतिक्रमण की अपरिहार्यता का संकेत दिया, अनेक मर्मी सन्तों ने सन्तवाणी का इतर परिष्कृत साहित्य-वाणी से पार्थक्य किया, इसके बाद भी ये प्रश्न बहुत दूर तक अनुत्तरित रह जाते हैं।

ये प्रश्न इस प्रकार हैं—

(१) भक्ति और भक्ति-रस दोनों अनुभव क्या एक हैं, क्या भक्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हुए बिना भक्तिरस का आनन्द नहीं मिल सकता ?

(२) भक्तिकाव्य के परीक्षण के लिए और आनन्द के लिए क्या अलग मानदण्डों की आवश्यकता है, दूसरे शब्दों में क्या उसके लिए दूसरा काव्यशास्त्र होना चाहिए ?

(३) भागवत को पुराणों के रूप में परिगणित किया गया है, उसे काव्य क्यों कहा जाय ? क्या पुराण और काव्य ये दोनों संज्ञाएँ संश्लिष्ट हो सकती हैं ?

मैं इन्हीं प्रश्नों का समाधान करना चाहता हूँ। अभिनवगुप्त पादाचार्य ने रसानुभूति को भक्ति की अनुभूति से पृथक् करते हुए कहा कि 'परमेश्वर विषयवैवश्यसमावेशरूपा भक्तिः'।...भक्ति चित्त को परमेश्वर विषय की ओर विवश करती हुई परमेश्वर विषय में समाविष्ट कर देती है, वह अलग सत्ता नहीं रहने देती, जबकि रसानुभूति में अलग सत्ता बनी रहती है, बावजूद इसके कुछ देर के लिए चित्त का सामान्य देशकाल से भावयोगात्मक देशकाल में विस्थापन हो जाता है। दूसरा अन्तर उन्होंने यह बतलाया है कि भक्ति-अनुभूति में विषयास्वाद रह नहीं जाता, सामान्य लोक-व्यवहार की अनुभूति में विषयास्वाद के साथ-साथ विषयासक्ति और विषयासक्ति-जन्य दुःख भी रहता है जबकि रसानुभूति में एक ओर विषयास्वाद की स्मृति रहती है, पर उसमें व्यासंग या विषयों के लिए ललक, न मिलने की पीड़ा नहीं रहती। प्रश्न है, क्या भक्तिरस के आस्वाद के क्षण में रसानुभूति की ये शर्तें नहीं पूरी होतीं, यदि होती हैं तो भक्ति को भाव के स्तर से ऊपर स्थान क्यों नहीं पुराने काव्यशास्त्रकारों ने दिया ? एक तर्क उठाया जाता है कि शृंगारादि रसों की अनुभूति में दूसरे की रति और अपनी रति इस प्रकार का विशेषीकरण समाप्त हो जाता है और निर्विशेषीकृत रति में चित्त निमज्जित होकर एक दूसरे प्रकार के रागात्मक अनुभव से गुज़रता है। वैसा भक्तिकाव्य के पढ़ने पर नहीं सम्भव है क्योंकि देवताविषयक रति स्थायी भाव नहीं है, स्थायी भाव नहीं है तो उसे उद्बोधित करने के लिए कोई काव्य पर्याप्त नहीं होगा। अन्य साधन अपनाये बिना वह उद्भावित नहीं हो सकती, साथ ही वह मानवीय रति की तरह प्रत्येक मनुष्य में व्याप्त नहीं है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कहीं होगी, कहीं कभी न होगी। और तीसरे मनुष्य के चित्त की प्रवणता उसकी ओर अधिक होगी, जो सामने उपस्थित है, इन्द्रियों का विषय है या सामने तत्काल नहीं है तो रह चुका है। उसकी और कम होगी, जिसकी पूर्व में लौकिक प्रतीति हुई ही नहीं।

इन तर्कों के आधार पर कुछ लोग मानते हैं कि रसानुभूति स्तर की अनुभूति भक्तिकाव्य पढ़ने से नहीं होती। दूसरे लोग कहते हैं कि भक्तिकाव्य में भी जहाँ राम आलम्बन हैं, सीतागत प्रीति के और जहाँ सीता आलम्बन हैं, वहाँ रामगत प्रीति का शब्दार्थ व्यापार द्वारा ऐसा सम्प्रेषण होता है जो रसानुभूति में परिणत हो जाता है, इस आधार पर कोई अनुभूति में अन्तर नहीं होता कि आलम्बन दिव्य या आश्रय दिव्य है, ईश्वरीय है या मानुष। अतः भक्तिकाव्य में मानवीय रिश्तों का और मानवीय संवेदनाओं की जितनी तीव्रता और सघनता के साथ प्रतीति होगी, उतनी ही मात्रा में रसानुभूति होगी ही, भक्ति की अनुभूति हो न हो अर्थात् काव्य पढ़कर ईश्वर के साकार या निराकार रूप की ओर चित्त आकृष्ट हो न हो। भक्तिरसायन जैसे ग्रन्थों में ठीक इससे अलग स्थापना की गयी है, वहाँ माना गया है कि रस केवल एक है, वह है भक्ति रस, शेष रस भक्तिरस के अंग-भूत हैं तो रस हैं, अन्यथा रसाभास। कोई भी मानवीय संवेदना क्यों न हो, वह ईश्वरोन्मुख होकर ही सार्थक है, शिशुपाल जैसे लोग श्रीकृष्ण से द्वेष करते हुए भी श्रीकृष्ण-चिन्ता में लीन होने के कारण साधारण भूमि से ऊपर उठ जाते हैं। ऐसे शास्त्रों के अनुसार भक्ति अन्तरायरहित सतत धारावाही एकोन्मुख प्रवाह है, दूसरे भाव उठते हैं, सो जाते हैं या विस्थापित हो जाते हैं, वे एकोन्मुख भी नहीं हो पाते। कभी एक से जुड़ते हैं कभी दूसरे से, कभी एक से रागद्वेष का रूप लेते हैं, कभी दूसरे से। उनमें न भक्ति जैसी तीव्रता होती है, न भक्ति जैसी अविच्छिन्न धारावाहिकता, न एकोन्मुखता। इसीलिए भक्ति का भाव समावेशक भाव है, अन्य भावों को अभिभूत करने वाला भाव है, **'इतर रागविस्थापनं नृणां'**, दूसरे समस्त रागात्मक अभिनिवेशों को अचम्भे में डाल देता है कि यह अनुभव महाराग कहाँ से आ गया, उसकी तुलना सामान्य रति आदि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भावों से नहीं कर सकते, वह समस्त भावों का भाव है, वह है तो सभी भाव समंजस लगते हैं, तुलसीदास जी के हाथों में सारे 'नाते नेह राम सों मनियत'। एक ऐसी सत्ता है जिसको पाकर ही नाते-रिश्ते नाते-रिश्ते लगते हैं और जिसकी अनुपस्थिति में वे भयावह हो जाते हैं। अतः रसानुभूति की भी प्रतीति इस विशालभाव के ही रहते होती है। इस विशालभाव को मूलभाव न मानना, व्यापकभाव न मानना, प्रतीति में तीव्रता के साथ आने वाला भाव न मानना प्रत्यक्ष अनुभव को झुठलाना है। राम के रस के आगे 'षट्रस, नौ रस अनरस' होकर सीठे हो जाते हैं। अतः स्वतन्त्र भक्तिरस की स्थापना अपरिहार्य है।

सामान्यतः भक्तिकाव्य से लोग यही ग्रहण करते हैं, इसमें भगवान् का गुणानुवाद होगा, भगवान् से प्रार्थना होगी, भगवान् की लीलाओं का आख्यान होगा, भगवान् की ओर अभिमुख करने के उद्देश्य से संसार से विमुख करने की बात होगी। ऐसे काव्य में रस-ग्राहिता कम ही आयेगी। पुराण या स्तोत्र जैसे काव्य उत्तम काव्य की कोटि में नहीं आ सकते, उनमें उपदेश का प्राधान्य रहता है या अविश्वसनीय श्रद्धा का आरोप रहता है, या एक ऐसा काल्पनिक संसार रहता है, जिसे मानने के लिए तर्कप्रज्ञा को निलम्बित रखना पड़ता है। इस प्रकार के काव्य में सूक्ति-चमत्कार तो हो सकता है, कहीं-कहीं कुछ विमुग्ध करनेवाली निरीह भावुकता भी हो सकती है, पर हृदयस्पर्शिता नहीं होती और आधुनिक पाठक के लिए तो और भी नहीं। इन लोगों की दृष्टि में भागवत और रामचरितमानस में काव्यत्व इसलिए नहीं है कि वे भागवत भाव के काव्य हैं, बल्कि इसलिए है कि वे मानवीय भावों के घात-प्रतिघात के मिलन-बिछुड़न के राग-द्वेष के मनोहारी चित्रण हैं। श्रीराम या श्रीकृष्ण को परब्रह्म न भी मानें तो भावोद्रेक में कोई कमी नहीं आती, जिस समय हम भागवत या मानस पढ़ते या सुनते हैं, अपने आप परवश करने वाला एक प्रवाह मिलता है।

ये प्रश्न उठते हैं और जो थोड़े से शास्त्रीय समाधान मैंने अभी-अभी दिये हैं, उनसे पूरा सन्तोष नहीं होता। जिस रूप में भागवत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

या मानस में श्रीकृष्ण या राम की उपस्थिति चित्रित है, उसे अन्य उपस्थितियों से अधिक आकर्षक मानने की एक जातीय लाचारी तो रहती ही है, इससे कैसे इन्कार करें। दूसरी ओर विषयासक्त मन में भी सूर की लीला पदावली पढ़कर, सुनकर या भागवत में गोपियों की उन्मदान्ध प्रीति का आलाप पढ़-सुनकर जो एक अनुभूति होती है, वह तन्मय करने वाली होती ही होती है, इसका भी खण्डन नहीं किया जा सकता। इसलिए लगता है नये सिरे से भक्ति, भक्तिकाव्य और भक्ति-रस के स्वरूप पर विचार करना होगा।

भक्ति शब्द जिस धातु से निकला है, उस भज् धातु के चार अर्थ हैं। पहला अर्थ है, हिस्सा बँटाना, साझीदार होना। दूसरा अर्थ है, सेवा करना, अपने को वशवर्त्ती के रूप में अर्पित करना, दूसरे शब्दों में अपना सब कुछ तदीय बना देना। तीसरा अर्थ है, आनुषंगिक बन जाना, गौण बन जाना, पर को सामने लाना, स्व को ओट में रखना। इसी से काव्यशास्त्र में लक्षणावृत्ति के अर्थ में भक्ति शब्द का प्रयोग हुआ है; वहाँ मुख्य अर्थ गौण हो जाता है और गौण या भाक्त अर्थ मुख्य। और चौथा अर्थ है रचना। कालिदास ने 'भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य' की उपमा विन्ध्य के पर्वत से निकलने वाली पत्थरों के ढोकों के बीच बहने वाली नर्मदा से दी, तो उसमें हाथी के शरीर पर रचना को (आज भी दशहरे में हाथी के शरीर पर जो रचना होती है) भक्ति कहा।

प्रस्तुत व्याख्यान के सन्दर्भ में भक्ति शब्द का प्रयोग इन सब अर्थों को समेटे हुए हैं, इसमें एक विशाल सत्ता के साथ साझेदारी का भाव है, उसकी सेवा का भाव है, अपने को अकिंचन मानने का भाव है, ऊपर से दैन्य दिखने वाला कातर भाव है, और अपने को रचने नहीं, अपने रचे जाने का भाव भी है। भक्ति को भक्तिसूत्र में 'परानुरक्तिरीश्वरे' कहा गया है, अनुराग कहने से कर्त्तृत्व का बोध अवशिष्ट रहता है, अनुरक्ति कहने से क्रियामात्र का बोध रहता है, कर्त्तृत्व विलीन हो जाता है, परा कहने के दो अभिप्राय हैं, अत्यन्त उत्कृष्ट और वह जो मदीय के रूप में सीमित नहीं रहता, मम होकर आबद्ध नहीं रहता, उसको अपना बना लेने वाला चुनौती

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देने वाला भाव कि—

'आजु हौं एक एक करि टरि हौं,
कै हमहीं कै तुमहीं माधव अपुन भरोसे लरिहौं।'

इस परानुरक्ति को न रति माना जा सकता है न और किसी कोटि में इसका अन्तर्भाव किया जा सकता है। प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्र में अतिमानवीयता की दृष्टि अपनायी गयी, इसीलिए वहाँ पशुपक्षियों और वनस्पतियों के बीच परस्पर आकर्षण को रसाभास माना गया है। उस संकुचित मानवावद्ध दृष्टि से यह अपेक्षा करना कि इस परानुरक्ति की रसवत्ता को स्वीकार होगी, दुराशा ही होगी। परन्तु यदि हम इस काव्यशास्त्र के पूर्ववर्त्ती अपने जातीय काव्य को गहराई से पढ़ते हैं हमें लगेगा कि प्रकृति के भीतर भक्ति व्याप्त चैतन्य प्रवाह के साथ तादात्म्य भी उतना ही तीव्र भावोत्पादक है, जितना स्त्री का पुरुष के लिए। एक को जैव आवश्यकता नहीं, दूसरे को नहीं, यह कम से कम अपनी समृद्ध साहचर्य-भाविनी परम्परा में ग्राह्य नहीं होना चाहिए। नासदीय सूत्र में जिस काम की चर्चा है, उसका एक छोटा-सा अंश होगा यौन आकर्षण, अन्यथा उसके अन्दर तो यह आता है कि—

कामस्तदग्रै समवर्त्तताधि
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

कवियों ने हृदय में सत् और असत् के बीच इस काम के द्वारा एक ग्रन्थिबन्धन किया। इस भावबन्धन में सच और झूठ का ही नहीं, परमार्थ और प्रतिभास का ही नहीं, स्व और स्वबिम्ब का ही नहीं, उपस्थित और अनुपस्थित का ही नहीं, दृश्य और अदृश्य, गोचर और अगोचर का ही नहीं, अनुभाव्य और अननुभाव्य का भी, परस्पर भिन्न दिखने वाले परस्पर अवलम्बित भावों का ग्रन्थिबन्धन भी अभीष्ट है। यह एक सर्जनात्मक दृष्टि है, इसमें वास्तविकता का विरोध नहीं है, केवल वास्तविकता की प्रतिमूर्त्ति है, किसी कमी या खालीपन या सूनेपन या भाव होकर भी अभाव-सा बनने की अपेक्षा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जिससे पूरी होती है, वह भी जीवन की वास्तविकता है। मनुष्य जितना वास्तव है, और उसके सुख-दुःख जितने वास्तव हैं, उतने ही वास्तव हैं पशु-पक्षी, नदी-पर्वत और उनके परस्पर-अवलम्बी भाव। इस दृष्टि से देवताविषयक रति और तिर्यक् योनि की रति भाव या रसाभास या भावाभास नहीं हैं, वे भी रस बनने की पूरा सम्भावना रखने वाले भाव हैं। देवता की उपस्थिति की अनुभूति किस रूप में प्रतीत होती है, नदी-पर्वत की उपस्थिति किस रूप में प्रतीत होती है, इसमें तारतम्य हो सकता है और प्रतीति के कम तीव्र होने पर रसवत्ता नहीं होगी, यह बात समझ में आती है, यह बात भी समझ में आती है कि कभी-कभी केवल दिखावे के लिए देवता को जगाने का कर्मकाण्ड होता है, पर्यावरण के लिए प्रेम चभचभाता है, वहाँ तो रसवत्ता कौन कहे एक खोखलापन ही उलटे ग्रसेगा। परन्तु यह नहीं समझ में आता कि मनुष्य के भावजगत् में केवल मनुष्य ही रहेगा, चैतन्य के और आलम्बन वहाँ नहीं रहेंगे। अतः इस भावजगत् की अपरिमेय सम्भावना को देखते हुए रसानुभूति का क्षेत्र विस्तृत करना ही होगा। नाट्य प्रयोग की आवश्यकता से प्रेरित होकर मानवीय रिश्तों तक ही भावाभिनय को आधार मानकर मनुष्य के इतर अनुभव का अपलाप नहीं किया जा सकता। इसलिए भक्ति के शब्दार्थसमर्पित रूप में भी रस का प्रत्यय दुर्निवार है।

जहाँ तक कि पुराण और काव्य के एक ग्रन्थ में संश्लिष्ट होने का प्रश्न है, पुराण है ही काव्य की वाणी, पुराण का अर्थ है पुराने को पुराना न रहने देना, जातीय स्मृति को अपनी मति का अंग बनाना, अपने वर्त्तमान की अनुभूति और अपने भविष्यत् का बीज बनाना, उसमें काव्यात्मकता सर्वदा निहित है, केवल यही अन्तर है कि उसमें जानकारी देने पर अधिक बल है, पर जानकारी जब दी नहीं जाती, फिरकी की तरह लीलाभाव से नचायी जाती है तो वह सहज काव्य बन जाता है। श्रीमद्भागवत ऐसा ही काव्य है, वह हमारे चित्त में बसा है, इससे वैसे पुराणकाव्य और रचे जाते रहे और जाते रहेंगे ही, बावजूद पुराणनिन्दा के विरस और असत् व्यापार के। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा, एक अवध के क्षेत्र का लोकगीत है, जिसमें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कैकेयी ने राम से अयोध्या लौटने पर कहा, बेटा सबकी साध पूरी की, मेरी साध नहीं पूरी करोगे, मैं तुम्हारी माँ बनना चाहती हूँ, राम ने कहा तुम माँ बनोगी पर तुमने पुत्रवत्सल पिता को क्लेश दिया, तुम्हें वात्सल्य का रस दूध पिलाने को नहीं मिलेगा और कैकेयी ही देवकी बनीं माँ होकर वात्सल्य रस के दान से वंचित। यह पुराण काव्य नहीं तो और क्या है ?

संक्षेप में भक्तिकाव्य का रसास्वाद भक्ति के भाव से कुछ विशिष्ट है और यह रसास्वाद काव्य ही नहीं पुराण से भी सम्भव है, बशर्ते कि उसमें सर्जनशीलता हो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

५

गीतगोविन्द : नया युगारम्भ

'गीतगोविन्द' एक नाट्यप्रबन्ध है जिसकी प्रबन्ध-योजना इस प्रकार है। इसमें कुल बारह सर्ग हैं। एक सर्ग में कम-से-कम एक, अधिक-से-अधिक चार अष्टपदियाँ हैं। प्रत्येक अष्टपदी के पूर्व और अन्त में कथायोजक सूत्र के रूप में अथवा आशीर्वचन के रूप में श्लोक हैं। अष्टपदी की योजना इस प्रकार है कि वह गायी जाये और उसके साथ-साथ अभिनय भी प्रस्तुत हो। गेयता और अभिनेयता को साथ-साथ ले चलने के तनाव में भाषा बहुत तरल और पारदर्शी हो गई है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उसमें अर्थगर्भता नहीं है। एक-एक टुकड़े में संगीत और नृत्य की उद्भावना की दृष्टि से असीम सम्भावनाएँ निहित हैं क्योंकि एक-एक टुकड़ा किसी-न-किसी संचारी, किसी-न-किसी अनुभाव, विभाव के पक्ष को व्यंजित करता है और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वह पक्ष अर्थों की पर्तों में लिपटा हुआ रहता है। धीरे-धीरे एक-एक पर्त खुलती है और बार-बार खोलने का प्रयत्न करने पर भी कुछ-न-कुछ हुआ रह ही जाता है।

सर्गों के नाम भी अपने आप में बहुत व्यंजक हैं। पहला सर्ग 'सामोद दामोदर' है। इसमें चार अष्टपदियाँ हैं। पहली अष्टपदी 'दशावतार वन्दना' है। दूसरी अष्टपदी 'श्रीपति-वन्दना' है। तीसरी-चौथी अष्टपदी में श्रीकृष्ण के वसन्त रास का वर्णन है। इस रास में राधा अनुपस्थित हैं। रास का वर्णन ईर्ष्या के माध्यम से राधा के मन में अभिलाष उकसाता है। ध्यान देने की बात है कि श्रीकृष्ण को 'दामोदर' नाम से स्मरण किया गया है अर्थात् श्रीकृष्ण का प्रेमाबद्ध रूप ही प्रमुख है। दामोदर का अर्थ ही है—जिसका उदर रस्सी से बँधा हुआ हो, जो भयभीत हो। एक ओर वे सामोद हैं क्योंकि वसन्त का रस-रूप-गन्ध-सम्भार उन्हें चारों ओर से घेरे हुए है, दूसरी ओर वे आतंकित हैं रासेश्वरी की अनुपस्थिति से। सामोद-दामोदर में एक साथ दो व्यंजनाएँ हैं। इसमें श्रीकृष्ण का अन्तर्द्वन्द्व प्रकट रूप में है और अप्रकट रूप में राधा का अन्तर्द्वन्द्व जो देर से रास के लिए चलीं। देर हो गयी और उन्हें रास की झंकार ही सुनायी पड़ी। तब ठिठक-कर, नाराज होकर अलग चली गयीं। एक सघन प्रेम का बीज बोया जाता है और इस सर्ग में राधा का स्मरण राधा के वलद विशेषण से किया गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि मन की विकलता लहर की तरह मोड़ लेने लगी है।

ऐसी स्थिति में राधा हैं और सर्ग का 'सामोद-दामोदर' नाम व्यंग्य बनकर रह जाता है, कैसा आमोद जो दोनों ओर एक आग सुलगाता है।

दूसरे सर्ग का नाम है—'अक्लेश केशव'। इसमें दो अष्टपदियाँ हैं। पहली में राधा अपने मन को रास के भीतर पहुँचा देती हैं और कहती हैं—मेरा मन बार-बार इस रास में चला जाता है, रास से अधिक मेरे मन का परिहास करने वाले मन के मीत में चला जाता है। दूसरी अष्टपदी में जब दीन होकर सखी से प्रार्थना करती हैं कि कुछ ऐसा करो कि आकुल होकर मेरे साथ वे रमण करें। वैसे ही जैसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रथम समागम के समय मिले थे, मैं वैसे ही उनकी भाँति-भाँति की केलियों से उद्वेलित होना चाहती हूँ। राधा के भीतर यह उत्कण्ठा जगे, यही तो केशव के क्लेश को काटने का साधन है। आमोद-प्रमोद के बीच जो उन्हें क्लेश हुआ कि इस रास में राधा नहीं हैं, चिन्ता हुई, मैं नाचता रहा, खेलता रहा, राधा को कैसा लगा होगा, उसकी शान्ति इसी से तो होगी कि राधा मिलने के लिए उत्कण्ठित हों। राधा की उत्कण्ठा ही केशव को, घुँघराले बालों वाले श्रीकृष्ण को भीतर से परिपूर्ण और तृप्त करती है।

तीसरे सर्ग में जब श्रीकृष्ण राधा को खोजने निकलते हैं और यहाँ-वहाँ कहीं नहीं पाते तो अनुताप से भर जाते हैं। मुझे गोपियों में घिरा देखकर वह चली गयी, मैं उसे रोक नहीं सका, मैंने उसको सम्मान नहीं दिया। उसके बिना रास किया। इस प्रकार मधु अर्थात् वसन्त को मथने वाले, प्यार को मथने वाले श्रीकृष्ण स्वयं मोहित हो जाते हैं। इस सर्ग का नाम 'विमुग्ध-मधुसूदन' है। द्वितीय और तृतीय सर्गों को यदि हम एक साथ देखते हैं तो दोनों की परस्पर उत्कण्ठा के अंकुरण का वृत्त पूरा हो जाता है।

और अब चौथे सर्ग की भूमिका बनती है जिसमें सखी राधा की उत्कण्ठा का चित्र खींचती है, तब श्रीकृष्ण को आभास होता है कि केवल मैं उत्कण्ठा करने वाला नहीं हूँ, उत्कण्ठा का विषय भी हूँ। मैं केवल वेधक नहीं हैं, वेध्य भी हूँ। और यह अनुभव उन्हें स्निग्ध कर देता है। वसन्त को उन्मन करने वाला रूखा भाव इस अनुभव से आपूरित होकर स्निग्ध हो जाता है, मन को कहीं और ठौर मिल जाती है। इस 'स्निग्ध मधुसूदन' सर्ग में दो अष्टपदियाँ हैं। दोनों में राधा के उन्माद करने वाले विरह के द्रावक चित्र हैं।

पाँचवें सर्ग का नाम है—'साकांक्ष पुण्डरीकाक्ष' विष्णु के रूप की सबसे बड़ी विशेषता उनका कमलनयन होना है। कमलनयन होने का अर्थ साकांक्ष होना है, क्योंकि कमल निराकांक्ष नहीं है। वह सूर्य के प्रकाश की आकांक्षा रखता है। इस सर्ग में विरह-व्याकुल श्रीकृष्ण राधिका का दुःख निवेदन करने वाली सखी से कहते हैं कि मैं यहीं बैठा हूँ, तुम अनुनय-विनय करके राधा को ले आओ। इसमें दो अष्ट-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पदियाँ हैं। पहली में श्रीकृष्ण की विरह व्यथा का वर्णन है, दूसरी में राधा से मिलने के लिए अनुरोध है कि "तुम साकांक्ष श्रीकृष्ण की आकांक्षा की पूर्ति करो।"

छठां सर्ग है—कुण्ठ वैकुण्ठ। इसमें केवल एक ही अष्टपदी है। राधा से सखी ने निवेदन किया। राधा चलने में अशक्त थी। विरह से इतनी असह्य हो गयी थी कि वह लताकुञ्ज से उत्कण्ठा रखते हुए भी चल नहीं पा रही थी। सखी राधा की दशा का वर्णन कर रही है कि "वह तुममें खो गयी हैं और वहीं निकुञ्ज में अनेक कल्पनाएँ कर रही हैं। कभी वह सोचती हैं कि तुम वहाँ हो, कभी चल पड़ती हैं, फिर लड़खड़ा कर गिर पड़ती हैं, कभी सोचती हैं मैं ही श्रीकृष्ण हूँ, कभी अन्धकार को ही श्रीकृष्ण मान लेती हैं और आपके मिलने की तैयारी किये हुए मन में लज्जित होती हैं कि इतनी देर हो गयी, नहीं आये"। कुण्ठ वैकुण्ठ का अर्थ है कुण्ठारहित। निर्द्वन्द्व श्रीकृष्ण भी कुण्ठित हो गये हैं—"राधा नहीं आ पाई मैंने सन्देश दिया और वे तैयारी किये बैठी रहीं आ नहीं पाई। कहीं मेरी आकांक्षा में कमी थी"। इस सर्ग का नाम उत्कण्ठ या सोत्कण्ठ भी है। एक स्थान पर धन्य वैकुण्ठ भी। परन्तु 'कुण्ठ-वैकुण्ठ' पाठ अधिक सटीक लगता है। रात बढ़ गयी है और चन्द्रमा जब सिर पर आ जाता है तो राधा को लगता है कि मैं ठगी गयी। सखी ने कहा, "प्रिय तुम्हारे लिए उत्कण्ठित हैं"। मैंने तैयारी की, वे नहीं आये। उन्होंने पीड़ा नहीं समझी कि मैं प्रतीक्षा कर रही हूँ। मेरा मान उन्हें रखना चाहिए, स्वयं आ जाना चाहिए। जब प्रिय ने मेरा मान नहीं रखा, तब किस की शरण में जाऊँ। सखी ने धोखा देकर मुझे वासकसज्जा बना दिया और प्रिय नहीं आये। इस वंचित-भाव में अनेक कल्पनाएँ आती हैं। लगता है प्रिय इसलिए नहीं आये कि वे किसी दूसरी बड़भागिनी के साथ आराम कर रहे हैं और उस कल्पित बड़भागिनी के सुख की ईर्ष्या के दाह में राधा जलने लगती है। उसके सुख की अनेक प्रकार से कल्पना करने लगती है फिर सोचती है कि उसे कोई विरह-व्यथा नहीं है। उसे चन्द्रमा नहीं जलाता। उसे मलय पवन अनुतप्त नहीं करता। इस सर्ग में चार अष्टपदियाँ हैं और विप्रलब्धा नायिका के रूप में राधिका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का मर्मस्पर्शी चित्रण है। यह वासकसज्जा और विरहोत्कण्ठिता की अवस्था के बाद विप्रलब्धा भाव की उत्थापना विरह को और भी उद्दीप्त करने के उद्देश्य से की गयी है। ठगे जाने का यह भाव सबसे अधिक उद्दीप्त करने वाला भाव होता है। इस सर्ग का नाम जो "नागर-नारायण" रखा गया है, उसका अभिप्राय यही है कि अनेक व्यष्टि चित्तवृत्तियों में एक साथ रमने वाले नारायण कितने चतुर हैं कि एक चित्तवृत्ति को दूसरी चित्तवृत्ति का पता नहीं चल पाता। वे जल में रहने वाले जड़ नारायण नगर के छल-छन्द से परिचित हो गये हैं, यह सर्ग के शीर्षक का दूसरा अभिप्राय है। रात ढल रही है और वंचित होने का भाव और तीखा होता जा रहा है, क्योंकि पूरी रात व्यर्थ हुई जा रही है।

भोर होते-होते श्रीकृष्ण का अभिमान टूटता है। वे राधा के निकुंज में स्वयं आते हैं और राधा के चरणों में पड़ जाते हैं। आठवें सर्ग का प्रारम्भ इसी सूचना से होता है कि वे चरणों में पड़े हुए मना रहे हैं और आर्त्त राधा उन्हें झिड़क रही हैं, वह कह रही हैं—चले जाओ, मुझसे छल-छन्द की बातें न करो। उसी के पास जाओ जो तुम्हारा दुःख हरती हो। तुम्हारा अंग-प्रत्यंग गवाही दे रहा है कि तुम मेरे पास नहीं आये, इसका कारण यही था कि तुम उसके साथ खेलते रहे। इस सर्ग में विप्रलब्धा की स्थिति खण्डिता के रूप में स्पष्ट हो जाती है। पहले कल्पना थी, किन्तु अब राधा को स्पष्ट प्रमाण मिल जाते हैं कि प्रिय जो मनाने आये हैं, उसमें कहीं खोट है। यह मेरे रहे नहीं, किसी दूसरी के हो गये हैं। खण्डिता की यह योजना भी व्यष्टि चित्त के विराट् के साथ एकाकार होने की प्रक्रिया को और तीव्रतर बनाने के उद्देश्य से है। टूटने का भाव ही प्रेम-प्रकर्ष का वह क्षण जाता है, जब पूरे आक्रोश के बाद समर्पित चित्तवृत्ति विगलित होकर श्रीकृष्णमय हो जाती है, उसका अपना अस्तित्व नहीं रहता है। इस सर्ग का नाम इसीलिए 'विलक्ष्य लक्ष्मीपति' है। लक्ष्मीपति होते हुए भी जब लख लिये जाते हैं तो वे विलक्ष्य हो जाते हैं। वे अलक्षित नहीं रह पाते क्योंकि अनेक लक्ष्य अनेक चिह्न उभर आते हैं कि वे लक्ष्मीपति हैं, राधा के प्रिय नहीं हैं। उस लक्ष्मी के पति हैं जो राधा की छाया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अब सखी बीच में पड़ती है और कलह के लिए तुली हुई राधा को मनाती है—श्रीकृष्ण तुम्हारे पास आये हुए हैं और तुम मान कर रही हो यह ठीक नहीं है। सारी युवति-सभा इस पर हँस रही है। किसको इतना बड़ा सौभाग्य कि श्रीकृष्ण आकर पैरों में पड़ें और मनायें। इस सर्ग का नाम है 'मन्द-मुकुन्द'। बहुत बुद्धिमान बनते थे, अब सारी अकल गुम हो गयी है और श्रीकृष्ण को कुछ सूझता ही नहीं—कैसे मनायें, वे सखी को विचवई बनाते हैं। यकायक अपनी व्यापकता के उघर जाने से वे हक्का-बक्का हो जाते हैं। कहीं-कहीं सर्ग का नाम 'मुग्ध-मधुसूदन' भी मिलता है। इतने फूलों का रस चलने वाले यकायक बड़े निरीह बन जाते हैं और सारा दिन इस कलहान्तरिता राधा को मनाने में बीत जाता है। दिन में राधा से कुछ कहने की हिम्मत नहीं होती। जब दिन ढलता है, तो राधा का क्रोध शिथिल होता है, तब श्रीकृष्ण को अपनी चतुराई का परिचय देने का अवसर मिलता है। वे राधा की चाटुकारी करते हैं कि तुम चारुशील वाली हो, अकारण क्यों मान कर रही हो, मेरे प्रति यदि इतनी नाराजगी है तो मुझे दण्ड दो। इस प्रकार बड़ी चतुराई से राधा के जरा-जरा पसीजते चित्त को वश में करते हैं और मानिनी का मान शिथिल करते हैं। इसीलिए इस सर्ग का नाम 'चतुर चतुर्भुज' है।

ग्यारहवें सर्ग के प्रारम्भ में सूचना मिलती है कि श्रीकृष्ण ने मनाया और फिर अपने कुंज में चले गये। राधा का मन भी उनके पास चलने को हुआ क्योंकि तबतक राधा अपना राधापन खो चुकी थी और श्रीकृष्ण राधामय होकर अपने कुंज में चले गये हैं। अब सखी को मौका मिलता है कि वह राधा से कहें कि "इस अनुगत प्रियतम का अनुसरण करो। अब तुम श्रीकृष्ण को जगाओ"। इस सर्ग में तीन अष्टपदियाँ हैं। पहली अष्टपदी में श्रीकृष्ण के पीछे-पीछे चलने का अनुरोध है। दूसरी अष्टपदी में कुंज में प्रवेश करने का अनुरोध और तीसरी अष्टपदी में दोनों की आँखें मिलने का वर्णन है। श्रीकृष्ण को राधा देखती है तो पाती है कि वे अपने साज-शृंगार में राधामय बने हुए हैं, इसीलिए इस सर्ग का नाम है 'सानन्द दामोदर'। आनन्द के दाम से वे बँधे हैं। राधा घनश्याम की आनन्द-दामिनी ही तो हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उन्मत्त मेघ को सौदामिनी ही नियंत्रित करती है। उसी के इशारे पर वह रस-वर्षा करता है। श्रीकृष्ण को इस रूप में देखने पर राधा को अपने प्यार पर और अपने ऊपर पूर्ण विश्वास हो जाता है।

द्वादश सर्ग के प्रारम्भ में सूचना मिलती है कि सखियाँ निकुंज से बाहर चली गयी हैं। अब यकायक राधा को लज्जा और प्यार दोनों ने घेर लिया है। वे पल्लव-शय्या की ओर दृष्टि डाले हुए हैं। श्रीकृष्ण ऐसे में प्रिया से कहते हैं "अबतक तुम राधिका रही हो आराधिका रही हो, अब देखो, नारायण स्वयं तुम्हारे अन्दर हैं। उनको प्यार करने की अनुमति दो।" इस बार सूचना मिलती है कि दोनों का मिलन होता है। दोनों का हरि के वांछित रूप में मिलन होता है। इस मिलन के बाद राधा पुनः जैसे आयी थी कृष्णमय होकर, वैसे ही कृष्णमय होना चाहती है और कृष्ण के हाथों रची जाकर होना चाहती है इसीलिए वे अनुरोध करती हैं कि तुम मुझे ऐसे सजाओ कि अंग-अंग में तुम छा जाओ, तुम्हारा रंग छा जाये। इस सर्ग का नाम है—'सुप्रीत पीताम्बर'। राधिका ही तो श्रीकृष्ण या पीताम्बर हैं और ऐसे सम्पूर्ण भाव से राधामय श्रीकृष्ण से जब यह कामना की जाती है कि राधा ही अपने को श्रीकृष्णमय बनाकर कुंज से लौटना चाहती हैं, तो प्रीति की सफलता सुनिश्चित हो जाती है।

गीतगोविन्द का प्रारम्भ होता है वर्षा के मंगल से और अन्त होता है वासन्ती रसवृष्टि से, जब प्रिया-प्रीतम एक-दूसरे के रंग में भींगकर सराबोर हो जाते हैं। यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि किसका रंग ज़्यादा गहरा है। दोनों के ऊपर एक-दूसरे का रंग उतना ही गहरा है। अन्तिम सर्ग के अन्त से यह ध्वनित है कि सुबह होने वाली है। एक दिन एक रात अनुताप और प्रतीक्षा में गये। दूसरा दिन मनाने और कोपने से शुरू हुआ और दूसरी रात में जाकर सम्पूर्ण भाव से मिलना सम्भव हुआ। तीसरे दिन का आरम्भ एक नयी रचना की तैयारी से होता है—राधा की कृष्णमय रचना और यहीं पर समाप्त हो जाता है।

इस ग्रन्थ का लक्ष्य ही यही था कि नयी राधा रची जाय और स्वयं श्रीकृष्ण के हाथों रची जाय। रची जाकर वह काव्य की, वैष्णव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्ति की, कला की, संगीत की अधिष्ठात्री हो जाय।

गीतगोविन्द नाट्य-प्रबन्ध का मंगल भी अत्यन्त नाटकीय है। पूरा काव्य वसन्त का काव्य है और मंगल है वर्षा का। पूरे काव्य में श्रीकृष्ण अत्यन्त चतुर और विदग्ध नायक के रूप में चित्रित हैं और इस मंगल में एक अबोध और निरीह किशोर के रूप में। इस वैषम्य के दो नाटकीय उद्देश्य हो सकते हैं। एक तो यह संकेत देना कि इस काव्य में वर्णित अनुराग लीला का बीज निरा ऐन्द्रिय और शारीरिक नहीं। यह अनुराग अनायास अंकुरित हो गया था, जैसे उस उद्दाम ऋतु ने सारे बन्धन खोल दिये हों। वसन्त के आते-आते वह अनुराग निर्बन्ध और उत्कट प्रेम का स्वरूप ले चुका है। दूसरा प्रयोजन यह हो सकता है कि मंगल में राधा का उत्कर्ष दिखाकर यह इंगित किया गया है कि यह काव्य नायिका-प्रधान है, नायक-प्रधान नहीं। एक तीसरा प्रयोजन भी हो सकता है कि वर्षा ऋतु के इस चित्र में सब-कुछ श्याममय है—आकाश, धरती, सब-कुछ। और श्याम को इतनी श्याममयता से घबराहट है। अपने स्वरूप के ऐसे असीम विस्तार से आकुलता है। एक विराट् अकेलेपन का भय है। उन्हें इस अकेलेपन से मुक्ति चाहिए। जो-जो श्याम है, उसे एक विशेष स्वर्णिम आभा से मण्डित करने की आकांक्षा है जिससे एक सामरस्य एक चराचर पूरकता स्थापित हो सके। विराट् के उन्मथित चित्र और व्यष्टि के अत्यन्त विश्वस्त चित्र के बीच यह भाव जगाना है कि अब मेरे हो गये, यह विराट् अनुभव मेरा हो गया। इस सामरस्य की परिणति सहायक नहीं होती। कई सोपानों से होते हुए शिखर पर पहुँचना सम्भव होता है। उन सोपानों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

मेधैर्मेदुर मम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुंजद्रुम
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः॥

आकाश पहले से ही श्यामल है। काले मेघों के कारण उसकी श्यामलता और बढ़ जाती है। वह प्रगाढ़ श्यामल हो जाता है। वृन्दावन की भूमि वैसी ही बनी छाया के कारण श्यामल है, पर वर्षा में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपना पत्रजाल फैलाये और अपनी डालियों को जमीन तक लटकाये तमाल वृक्षों की सघनायमान छाया के कारण निपट श्यामा बन जाती है। अवनि और अम्बर की इस दोहरी श्यामता को और अधिक गहरी रंगत देने के लिए रात घिर आती है और इस रात में भीतर का अन्धकारमय भी घिर आता है। दशों दिशाएँ श्याम हैं। इस श्यामता में श्याम कहाँ जायें, कहाँ रहें। इस श्याम को गति कहाँ से मिले। इस श्याम को तो अपना घर भी भूल जाये, अपनी सुधि भी भूल जाये। अपने को अलग वह पहचान न पायें। नन्द को लगता है बस, ऐसे अपनी ही असीमता से घबराये हुए श्याम को यदि कोई स्वरूप-विमर्श करा सकता है तो उसकी आह्लादिनी शक्ति ही करा सकती है। वह आह्लादिनी शक्ति राधा है। वे राधा से कहते हैं कि इस डरे हुए बालक को तुम ही घर पहुँचा सकती हो। इसे पहुँचा दो। इसका घर मनुष्य मन के वे झुरमुट हैं जहाँ मन निरन्तर छिपने का स्वप्न देखा करता है। इसका घर भानुसुता यमुना की उजली बालें हैं, जो वृषभानुसुता राधा के चरणों में पड़ने से और उजली हो गयी। उस घर में पहुँचने पर ही श्याम को अपना बोध हो सकता है, क्योंकि तभी वे केवल सच्चिद्घन न रहकर सच्चिदानन्द घन हो सकते हैं। नन्द के निदेश पर आगे-आगे राधा, पीछे-पीछे माधव चल पड़ते हैं और रास्ते में जितने कुंज पड़ते हैं, उनमें प्रत्येक में निभृत एकान्त में सत् और चित् का आनन्द में, आनन्द का सत्-चित् में सम्पूर्ण विलयन बार-बार घटित होता रहता है। इस प्रकार यह घटना कभी भी समाप्त नहीं होती, निरन्तर घटती रहती है। इसीलिए यह एकान्त केलि केवल इसलिए एकान्त है कि एक के सिवा दूसरे को रहने नहीं देती, अन्यथा यह केवल एक कुंज में नहीं घटित होती। एक वृक्ष की छाया में नहीं घटित होती। असंख्यासंख्य कुंजों में, असंख्यासंख्य वृक्षों की छाया में, असंख्यासंख्य अभिलाषाओं के वितान में, असंख्यासंख्य चित्तों के गर में, असंख्यासंख्य एकान्तों में, असंख्यासंख्य निभृत-अवकाशों में बार-बार घटित होती रहती है, इसीलिए "रहः केलयः" बहुवचन का प्रयोग हुआ है और "प्रत्यद्ध्वकुंजद्रुमम्" कहा गया है, किसी कुंज विशेष तक इसे सीमित नहीं किया गया है। इस प्रकार की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनन्त केलियाँ अपूर्वता, उत्कृष्टता और रसमयता के कारण कुल की कुल अनन्त मंगलविधायिनी हैं।

कुछ टीकाकारों ने नन्द का अर्थ भीतर का आनन्दभाव लिया है और कहा है कि भला नन्द ऐसा निदेश क्यों देने लगे, इसमें औचित्य प्रतीत नहीं होता। पर काव्य की मनोरमता अभिभावक के द्वारा श्रीकृष्ण के राधा के हाथ सौंपे जाने में ही अधिक प्रस्फुटित होती है।

इस मंगल के तुरन्त बाद तीन छन्दों में कवि अपनी और अपने काव्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता है। दूसरे श्लोक में जयदेव सूचना देते हैं कि एक ओर तो यह रचना-काव्य ऐसा है, जिसके चित्र का गृह वाग्देवी के चरित्र से विचित्र है अर्थात् चित्र शुद्ध रचनामय है। पर इसके साथ ही कवि पद्मावती राधा के चरण उपासकों में सर्व-श्रेष्ठ है, चक्रवर्ती है। इस प्रकार यह कवि समर्थ है कि सर्वव्यापी वासुदेव के प्यार की लीला से युक्त प्रबन्ध की रचना कर सके क्योंकि रचना की अधिष्ठात्री देवी उसके भीतर निवास करती है और उसे श्रीराधा की सेवा का अखण्ड सौभाग्य प्राप्त है।

तीसरे श्लोक में कवि अपने समकालीन रचनाकारों का स्मरण करता है और उनसे अपने को अलग भी करता है। एक उमापतिधर हैं, जो वाणी को पल्लवित करना जानते हैं। एक शरण हैं, जो सूक्ष्म और प्रवाहयुक्त ध्वनि-प्रवाहों के मर्मज्ञ हैं। एक गोवर्धनाचार्य हैं जिनकी शृंगार रस की रचना में कोई प्रतिस्पर्धी नहीं सुना गया। एक धोयी हैं जो श्रुतिमाधुर्य में कवियों के सिरमौर हैं। इन सबमें विशिष्ट हैं जयदेव, जो अकेले जानते हैं—शब्द का सही सन्दर्भ क्या है, प्रत्येक शब्द के भीतर निहित मार्मिक अर्थ क्या है और यह जानकर ही शब्दों का विन्यास करते हैं। उनके काव्य में न ध्वनि-प्रवाह ही मुख्य है, न सूक्ष्म अर्थों की खोज ही मुख्य है, न शृंगार ही मुख्य है, न वाग्विलास ही मुख्य है। इन सबको समेटने वाला एक विशेष प्रयोजन ही मुख्य है, जो केवल क्रम की विलक्षणता के द्वारा अत्यन्त विशिष्ट अर्थ का उद्भाव करा सकता है। वह अर्थ इस लोक में रहता हुआ ही इस लोक का नहीं है। वह अपने आप में कितव है। कितव एक बड़े बारीक मुहावरे का शब्द है जो बहुत ही कुशल ठग होता है, वह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सामान भी ले लेता है और उलटे कहता है—यह क्या तुम्हारा है, कितव ? भोजपुरी में एक इसी प्रकार की कहावत प्रसिद्ध है–वटुलिया तोर कि मोर ? बटलोई तुम्हारी है कि मेरी।

चौथे श्लोक में कवि अपने पाठक का चयन करता है। ऊपर से तो यह कहता है कि यदि आप का मन हरिस्मरण में सरस है और यदि आपके भीतर विलास-कलाओं के लिए कौतूहल है, तब आप जयदेव की इस सरस्वती को सुनें जो मधुर कोमल-कान्त पदावली से युक्त है। किन्तु वस्तुतः कवि का अभिप्राय यह है कि यदि केवल आप भक्तिरस में डूबे हुए हैं अथवा यदि केवल आप शृंगार में डूबे हुए हैं, तो आप मेरे काव्य के अधिकारी नहीं हैं। इसका अधिकारी वही हो सकता है, जो शृंगार का भी और भक्ति का भी अतिक्रमण कर चुका हो। जिसकी भक्ति अलौकिक न रह गयी हो, जिसका प्यार लौकिक या परिमित न रह गया हो, ऐसा ही व्यक्ति इस काव्य का सच्चा अधिकारी है। जयदेव यह अच्छी तरह जानते हैं कि कोरे भक्त इस काव्य से उद्विग्न हो सकते हैं, और शृंगार और प्रेम को विलास समझने वाले इस काव्य का अनर्थ कर सकते हैं। इस काव्य में दृश्य और श्रव्य का, मूर्त्त और अमूर्त्त का, भाव और विभाव का, उद्दीपन और आलम्बन का, संचारी और स्थायी का एकीकरण है, वह ऊँची रसमयी भूमिका वाले चित्त में ही ठीक तरह प्रतिबिम्बित हो सकती है।

इस प्रारम्भिक वक्तव्य के अनन्तर दो अष्टपदियों में दशावतार चरित के वर्णन के द्वारा मंगलाचरण किया गया है। अष्टपदी की रचना मूलतः अभिनय के लिए है। इसलिए ये दोनों अष्टपदियाँ अभिनय से प्रयोजित हैं। पहली में दशावतारों का क्रम-वर्णन है। दूसरी में केवल राम और कृष्ण का। श्रीकृष्ण पूर्णावतार हैं, षोडश कलाओं में पूर्ण। उनके पूर्ववर्ती और परवर्ती अवतारों में उनके पूर्ण व्यक्तित्व के कुछ-कुछ पक्ष व्यंजित हैं। पहली अष्टपदी में मत्स्य अवतार से लेकर कल्कि अवतार तक दश अवतारों का वर्णन है किन्तु इसमें श्रीकृष्ण अवतार सम्मिलित नहीं है। इसका प्रयोजन स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण अवतार समस्त अवतारों में ओतप्रोत है। यही दिखलाना कवि को अभीष्ट है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दशों अवतारों के वर्णन में एक समानता है वह यह कि प्रत्येक वर्णन कुछ न कुछ नाटकीयता लिये हुए है। प्रलयकालीन समुद्र के उद्वेलन में उद्वेलन के विरुद्ध एक मत्स्य का प्रयत्न है कि हम जीवन के मुख्य तन्तुओं के प्रज्ञा के बीज वहन करने वाले पोत वन जायें। दूसरे चरण में कच्छप एक डगमगाती हुई पृथ्वी को अपनी पीठ पर धारण करके स्थिरता और गति का सन्तुलन प्रस्तुत करता है। तीसरे में लीला भाव से एक दाँत की नोंक पर पृथ्वी सुनहली माया की कैद से मुक्त करके सुरक्षित रख दी जाती है। ऐसा लगता है जैसे चन्द्रमा की गोद में कलंक-कला आकर धँस गयी हो। चौथे में एक आधा पुरुष और आधा सिंह का रूप सोने की शय्या वाले हिरण्यकश्यप दैत्य के काले शरीर को अपने तेज नखों से ऐसे चीरता है जैसे किसी भँवरे को बीच से कोई चीर दे। इनमें हाथों के संचालन पर बल है। इसके वाद वाले चरण में पैरों के संचालन पर बल है जब तीन पग में वामन त्रिभुवन नाप लेते हैं और नापते समय जब विराट रूप धारण करते हैं तो उनके पद-नखों को धोर ही गंगा का प्रवाह उमड़ आता है। पाँचवें में एक दूसरे प्रकार की सत्ता के मद का निराकरण है। उस मद के साथ में लोग जल रहे हैं और भृगुपति रूप धारण करके भगवान विष्णु सत्ताधीशों के रुधिर जल से उस ताप का शमन करते हैं। इसके बाद वाले चरण में रामावतार में वे दस दिशाओं में रावण के दस शिरों की अलग-अलग बलि बाँटते हैं जैसे वे दिशायें रावण के मदोन्मत्त अहंकार की प्यासी रही हों। आठवाँ अवतार वलराम है जो गौरवर्ण हैं और नीले घने बादल जैसा नीला वस्त्र पहनते हैं। अपने हल की नोंक से पूरे हस्तिनापुर को उलटने के लिए यमुना को वह उद्वेलित करते हैं तो लगता है वह भयभीत यमुना ही उनके अंगों से लिपट गयी हैं। नवाँ अवतार भावी अवतार है, बुद्ध का, जिसमें एक दूसरा उद्वेलन होता है, वह होता है मन में और बुद्धि में। यज्ञ-विधि के बारे में एक दूसरी समझदारी प्रस्तुत की जाती है। पशु-बलि के प्रति करुणा का उद्वेग उमड़ाया जाता है। अन्तिम अवतार है कल्कि अवतार, जो कलियुग की बर्बर संस्कृति का दलन करते हैं, यकायक चमकते हुए धूमकेतु तारे की तरह सारे भूमण्डल में छा जाते

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हैं। इन सभी रूपों में अनेक नाटकीय भाव जो एक दूसरे के विरोधी रहते हैं, दर्शाये गये हैं। कहीं अतुलित धैर्य है, कहीं असीम क्रोध। कहीं छल है, कहीं सीधा आक्रोश। कहीं कठोरता है, कहीं करुणा। कहीं लीलाभाव है, तो कहीं प्रयत्न का संकल्प। श्रीकृष्ण के रूप में सभी गुण किसी न किसी तरह एक नया सौन्दर्य पा जाते हैं। इसलिए दशावतार कीर्तन के व्याज से श्रीकृष्ण का सम्पूर्णत्व ही व्यंजित किया गया है। ऐसे सम्पूर्ण का असम्पूर्ण, खण्डित, व्यष्टि चित्त राधा के आगे समर्पण और विशेष हो जाता है, उद्दाम रसवर्षी घनश्याम का क्षणदा सौदामिनी के आगे, भरी हुए प्रकृति का निपाते वसन्त के आगे, श्यामरस संभार का गौररस विन्दु के आगे समर्पण सार्थक हो जाता है, असीम इसी में अर्थ पाता है, और यही असीम का अपना विशिष्ट स्पृहणीय सौभाग्य है। यहीं से राधायुग का शुभारम्भ होता है, प्रपंचसार में श्री शंकराचार्य ने कहा है 'पुनंपुंसकयोस्तुल्या चांगनासु विशिष्यते' चैतन्य की लीला पुंस्तत्त्व और नपुंसक तत्त्व में सामान्य होती है, पर अंगनातत्त्व नारीतत्त्व में विशिष्ट होती है। श्रीकृष्ण का भाव नारी की भावप्रतिमा राधा में ही रसत्व पाता है, और जब पाता है तो विराट् लघु की ओर अभिमुख हो जाता है, लघु का विराट् के आगे समर्पण कम महत्त्वपूर्ण है, विराट् का समर्पण अधिक महत्त्वपूर्ण और सार्थक है। यह होता है, तभी विन्दु में सिन्धु को खोजने का नया प्रयत्न शुरू होता है। यह प्रयत्न गीतगोविन्द की रचना से शुरू हुआ और इसके बाद तो श्रृंखला ही प्रयत्नों की बढ़ती जा रही है, कला में, संगीत में, काव्य में, दर्शन में, सामाजिक आचार में, सर्वत्र। कैसे बाँध दिये गये हैं श्रीकृष्ण प्रेम के दाम में, कितना सुख मिलता है मुक्तिदाता को बन्धन में पड़ा देखकर।

□□□

मुद्रक : दुर्गा मुद्रणालय, सुभाष पार्क एक्सटेंशन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain; Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आम्राय
भरतनिधि, क

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi